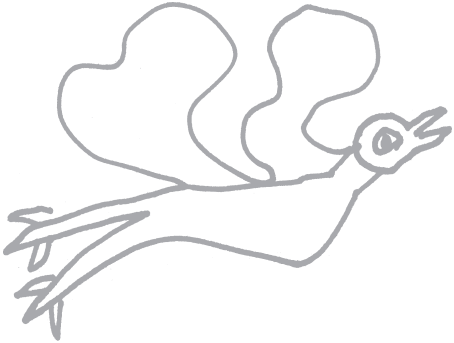


चौमासा

वर्ष-30 अंक-91
मार्च-जून, 2013

प्रधान सम्पादक
श्रीराम तिवारी

सम्पादक
अशोक मिश्र



आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

ISSN 2249-5479

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

सम्पर्क

आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स

भोपाल-462002

फोन/ फैक्स : 0755-2661948, 2661640

E-mail : mplokkala@rediffmail.com,
mptribalmuseum@gmail.com

web. : www.mptribalmuseum.com

मूल्य

एक प्रति बीस रुपये

वार्षिक सदस्यता - पचास रुपये

आजीवन सदस्यता - पन्द्रह सौ रुपये

चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रुपये



प्रचार/प्रसार

प्रवीण गावण्डे - (मो. 9827351093)

आवरण

बाना एवं टटल देवी, मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय

शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

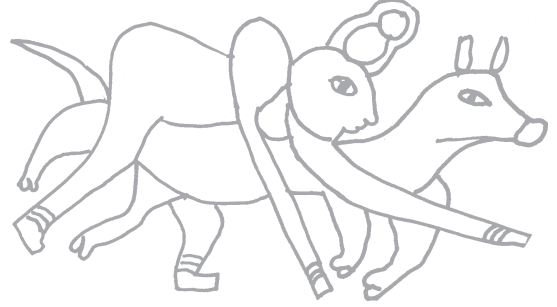
मुद्रण

मध्यप्रदेश माध्यम, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

निदेशक, आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्- भोपाल मुद्रक, प्रकाशक द्वारा मध्यप्रदेश माध्यम, अरेरा हिल्स - भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स- भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-अशोक मिश्र



इस अंक में

- सौंदर्य की अवधारणा में वैष्णव तत्त्व / अजयेंद्र नाथ त्रिवेदी / 5
लोक संस्कृति के अभिप्राय / डॉ. विद्या विन्दु सिंह / 10
तँवरघारी गीत : परम्परा एवं परिवेश / डॉ. सतीश चतुर्वेदी 'शाकुन्तल' / 21
ग्रामकथा का शब्दत्रहषि - विवेकी राय / प्रो. रामदरश राय / 26
लोकनाट्य और भिखारी ठाकुर / डॉ. अंगदकुमार सिंह / 30
सृजनधर्मी- श्री बाबूलाल द्विवेदी / डॉ. रकेश नारायण द्विवेदी / 33
लोक अध्येता : गोस्वामी तुलसीदास / डॉ. अंशुबाला मिश्र / 40
लिंगोपेन और उनकी गाथा / निरंजन महावर / 45
लोकगाथा और इतिहास / विजय वर्मा / 55
देवनारायण की देन / डॉ. महेन्द्र भानावत / 69
बघेली आख्यान- देव मदाइन / बाबूलाल दाहिया / 77
पवारी गीतों में सावन / गोपीनाथ कालभोर / 83
बंगाल के लोकगीत / डॉ. दीपिका श्रीवास्तव / 88
छत्तीसगढ़ी सुआ गीत / राम कुमार वर्मा / 91
सुन्दरगढ़ और महाकाल मंदिर / मायापति मिश्र / 97
लोकदेवी नर्मदा / वसंत निरगुणे / 100
दिवासा और नारोड़ा बावजी / डॉ. रामसिंह यादव / 103
निमाड़ी लोकोक्तियाँ / डॉ. सुमन चौरे / 108
फड़ापेन की पूजन परम्परा / डॉ. मनीषा सिंह मरकाम / 115
लय-ताल के रूपक / विनय उपाध्याय / 119
जनजातीय जीवन और कला का जीवन्त दस्तावेज / वसंत निरगुणे / 123

सौंदर्य की अवधारणा में वैष्णव तत्त्व

अजयेंद्र नाथ त्रिवेदी

सौंदर्य है ही रूप पर आश्रित अनुभूति। यह अनुभूति रूप के दो पक्षों क्रमशः आंतरिक और बाह्य पक्षों के संदर्भ में ग्रहण की जाती है। बाह्य पक्ष के संदर्भ में गृहीत अनुभूति उन्मादक, क्षणिक और अयथार्थ भी (कभी-कभी) होती है। जबकि आंतरिक रूपानुभूति में प्रशांतकता, दीर्घजीविता और यथार्थता (सापेक्षिक रूप से) रहती है। एक प्राचीन संस्कृति की भूमि भारतवर्ष में रूप की इस अनुभूति को लेकर लम्बा विमर्श हुआ है। सौंदर्य क्या है? यह किन-किन रूपों में उद्घाटित होता है और इसकी गुणता की परीक्षा कैसे की जा सकती है? ये प्रश्न हमारे प्राचीन आचार्यों के समक्ष आए। इनका स्वरूप समझने की लम्बी प्रक्रिया चली। आचार्यों की परम्परा ने इस विमर्श में लगातार योगदान किया। सौंदर्य यदि रूप की अनुभूति है तो यह अपने को उन सभी रूपों में प्रकट कर सकेगा, जिन रूपों में मनुष्य की इंद्रियाँ इसे ग्रहण कर सकती हैं। अर्थात् सौंदर्य आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा को अनुभूत होना चाहिए। इन इंद्रियों के परे जो मन है, उसे भी सौंदर्य प्रभावित करता है। कुछ विचारक मानते हैं कि यह मन ही है जो सौंदर्य को देखने का कारण बनता है। पर हम यहाँ इन प्रश्नों में नहीं जाएंगे। हम यहाँ इस बात पर विचार करने की चेष्टा करेंगे कि भारत में शास्त्रीय रूप में सौंदर्य की जो आवधारणा बनी है, उनमें वैष्णव तत्त्वों का क्या योगदान है।

भारतीय सौंदर्य की अवधारणा का आधार 'नाट्यशास्त्र' है। भरतमुनि द्वारा प्रणीत यह ग्रंथ भारतीय ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व परम्परा में इस विषय का पहला ग्रंथ है। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर टीका लिखकर भारतीय सौंदर्यशास्त्रीय विवेचन के काम को आगे बढ़ाया और इसका विकास आनंद कुमारस्वामी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राधावल्लभ त्रिपाठी सदृश आचार्यों ने आधुनिक संदर्भों

में किया है। भारतीय सौंदर्य की अवधारणा जिन आधारों पर बनती है, उनमें स्थापत्य, मूर्तिशिल्प, चित्रकला, साहित्य (काव्य), संगीत तथा नृत्य शामिल हैं। यहाँ ध्यान देने की बात है कि भरतमुनि ने इन सभी माध्यमों में सृष्टि रूप के सम्बन्ध में अलग-अलग शास्त्रों की रचना की, अपने-अपने विधान बनाए। पर रोचक बात यह देखी गई कि सभी शास्त्रों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भी साथ-साथ बना रहा।

सौंदर्य की अनुभूति कराने वाली शक्ति को भारत में रस कहा गया है। उसे उपनिषद् में ब्रह्म का पर्याय अथवा तद्रूप माना गया है। ध्यान देने की बात है कि प्राचीन शास्त्रों में सौंदर्य शब्द नहीं मिलता। हाँ, हमारे देश में इसके स्थान पर अलंकारशास्त्र को देखा जा सकता है। रस को भारत में सौंदर्य का अधिष्ठान माना गया है। भरतमुनि ने इसकी निष्पत्ति को आनंद अथवा आह्लाद का कारण बताया है। सौंदर्य के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि सौंदर्य का अनुभव भी आनंद अथवा आह्लाद का कारण है। रस की निष्पत्ति के लिए मानव कलाओं का आश्रय लेता है। प्रकृति के उपादान भी कला के रूप में सामने आते हैं और वे भावक (भावना करने वाले) की मनोभूमि को रस से सिंचित करते चले जाते हैं।

भारतीय सौंदर्य दृष्टि को सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की उक्ति में उन्मेष मिला है। श्रीमद्भागवत में सर्वोच्च सत्ता को सत्य रूप में स्वीकार किया गया है और उसको उपलब्ध करने की कामना की गई है- 'सत्यं परं धीमहि' कहा गया है। यह सत्य शिवस्वरूप है तथा इस प्रकार उसमें जो अभिव्यंजना प्रकट होती है, उसे सुंदर कहा जाता है। सत्यं शिवं सुंदरम् के इस शब्दत्रिक को भारतीय सौंदर्य मीमांसा का आधार सूत्र कहा जा सकता है। भारतीय शास्त्रों में वर्णित सुंदरता के विभिन्न उपकरणों का बाद के शास्त्रों में विस्तार से वर्णन किया जाता रहा। कालिदास ने भारतीय

सौंदर्यदृष्टि को व्यापकता प्रदान की। अपनी लेखनी के माध्यम से कालिदास ने सौंदर्य का वर्णन तो किया ही, प्रसंगवश सौंदर्य है क्या और उसका अधिष्ठान क्या होता है, यह बताना भी वे नहीं भूले।

भारतीय दार्शनिक चिंतन वेदों में वर्णित छोटे-छोटे संदर्भों से विकसित होता हुआ उपनिषदों में आकर परिपक्व होता है। उपनिषदों के बाद पुराणों में इसकी लोकानुरूप व्याख्या हुई। दार्शनिक चिंतन के समानांतर ही देवी-देवताओं की कल्पना भी चलती रही। वेदों में वर्णित देव प्रकृति की शक्तियों के प्रतिनिधि रूप थे। उपनिषदों में इनकी ज्यादा चर्चा नहीं मिलती। पर पुराणों में देवों का मानवीकरण और संबंधित प्रसंगों का सविस्तार वर्णन एक सुविचारित दार्शनिक ताना-बाना बुनकर रख देता है। पुराण जिसमें श्रीमद्भागवत प्रमुख है, विष्णु और उनकी लीलाओं के वर्णन भरे पड़े हैं। इन्होंने भारतीय श्रद्धा भावना के इतिहास में युगांतकारी परिवर्तन किए। श्री विष्णु को जगत के पालक के रूप में प्रतिष्ठित करके और उनके ऐश्वर्य की महिमा गाकर पुराणों ने एक ऐसे राजपथ का निर्माण किया, जिसपर आगे चलकर अनेक भक्तों ने अपना जीवन धन्य

किया। ऐसे स्वनामधन्य संतों की सबल पीढ़ी सूर-तुलसी, विद्यापति, चंडीदास, मीरा, रैदास, शंकरदेव आदि तक समृद्ध होती आई। इस परम्परा ने श्रीहरि विष्णु की कीर्ति में जो गायन किया अथवा जो वर्णन प्रस्तुत किए, उनमें भारतीय सौंदर्य दृष्टि का विकास हुआ है।

सुन्दरता के जिन प्रतिमानों को आज हम अपने जीवन और सामाजिक गतिविधियों में प्रतिबिंबित होता हुआ देखते हैं] उनके विकास में वैष्णव विचारधारा का गहरा और महत्त्वपूर्ण योगदान है। वैष्णव आचार्यों ने अपने आराध्य देव श्रीहरि को एक सम्पूर्ण पुरुष के रूप में प्राप्त किया है। विष्णु के स्वरूप का विकास



ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में 'व्यक्त सहस्रशीर्षापुरुषः' से माना जाता है। विष्णु समसमविभक्तांक एक शाश्वत पुरुष हैं। लक्ष्मी उनकी भार्या हैं और क्षीरसागर उनका निवास। क्षीरसागर में शेषनाग की कुंडली पर जब वे शयन करते हैं, तो लक्ष्मी उनके चरण दबाती हैं। श्रीहरि विष्णु अपनी पृथ्वी की रक्षा में अवतार लिया करते हैं। अखिल विश्व की रचना करने वाले भगवान प्रजापति ब्रह्मा-विष्णु की नाभि से निकले कमल के फूल पर बैठते हैं।

देखने में मेघवर्ष श्री विष्णु ऐश्वर्यों के अधिपति हैं। उनके गले में कौस्तुभ मणि शोभायमान होती है और सिर पर सोने का मुकुट शोभाता है, इसमें मोर का पंख लगा होता है। पीले कपड़ों को धारण करने वाले भगवान विष्णु अपने हाथों में क्रमशः चक्र, गदा, कमल का फूल तथा शंख धारण करते हैं। उनके चक्र का नाम सुदर्शन, गदा का नाम कौमुदकी, फूल का नाम पद्म तथा शंख का नाम पांचजन्य है। उनके गले में तुलसी की माला शोभती है तथा सम्पूर्ण दर्शन सभी प्रकार के तापों को दूर करने वाला है। एक सम्पूर्ण पुरुष देखने में किस प्रकार का होता है और वह व्यवहार कैसा करता है, यह श्रीहरि के विग्रह तथा उनकी लीलाओं के अध्ययन से पता चलता है।

यूँ तो श्रीहरि विष्णु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कण-कण में विद्यमान हैं, तथापि सूरियों ने क्षीरसागर को उनका निवास बताया है। क्षीरसागर में शेषनाग की कुंडली पर विष्णु निद्रा की स्थिति में माने गए हैं। लक्ष्मी शयनमान भगवान के चरण दबाती हैं तथा देव, गंधर्व, नाग, यक्ष, किन्नर, कामधेनु, नारद आदि उनकी स्तुति कर रहे होते हैं। भागवतों ने इस स्थिति के सौंदर्य का विषद वर्णन किया है। जन-जन में लोकप्रिय यह श्लोक यहाँ देखा जा सकता है-

शांताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम्।
लक्ष्मीकांतं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम्
वंदे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

एक साथ कितनी उपमाएँ! सभी ललित तथा अभिराम। आकार प्रशांत, नाभि से कमल के फूल का उद्भव, आकाश की तरह शोभा से समन्वित शुभदर्शन तन, ऐसे श्रीहरि विष्णु जो लक्ष्मी के प्रिय हैं तथा योगियों के ही ध्यान में आते हैं, समस्त

भयों का नाश करने वाले भी हैं, अतः सभी लोकों के आश्रय विष्णु की भक्त वंदना करते हैं।

वैकुण्ठ भी विष्णु का एक स्थान बताया है। इसकी शोभा अद्वितीय है तथा इसका ऐश्वर्य अतुलनीय है। यहाँ सोने-चाँदी के आसन, महीन वस्त्रों के पर्दे तथा सुगंधित द्रव्यों का अभिसिंचन पाया जाता है। यहाँ के उद्यान में पारिजात का वृक्ष विलसता है और इस स्थान पर विद्यमान विष्णु मंदिर के पहरेदार के रूप में जय एवं विजय खड़े रहते हैं। विष्णु का विग्रह शोभा का सिंधु है और उनका परिवेश उस शोभा सिंधु की उर्मियों से अलंकृत। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने जब अपना विराट रूप अर्जुन के समक्ष प्रस्तुत किया तो अर्जुन को लगा हजारों सूर्य एक साथ उदित हो गए हैं। विष्णु के प्राकट्य के इस वर्णन को कल्पना में ला पाना भी औसत आदमी के लिए अकल्पनीय है। शोभा की उस राशि को अपनी आँखों से देखना सिर्फ अर्जुन के लिए ही सम्भव हो सका- वह भी इसलिए कि उन्हें श्रीकृष्ण ने पहले सामर्थ्य दे रखी थी।

वैष्णव विचारधारा के साथ भक्ति के संयोग से जिस भाव-भूमि की स्थापना हुई, उसमें सौंदर्य को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। विष्णु के विग्रह की शोभा का गान, उनके ऐश्वर्य का वर्णन आदि मिलकर भारतीय सौंदर्य की अवधारणा को पुष्ट करते हैं। विष्णु के अवतारों में श्रीकृष्ण और श्रीराम तो सौंदर्य के साक्षात् अवतार ही थे। कवियों ने श्रीकृष्ण और श्रीराम की रूपमाधुरी का छककर वर्णन किया है। ये वर्णन पुरुष की शोभा के सर्वोत्तम प्रतिमान के रूप में आज भी समादृत हैं। भगवान श्रीराम का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने जो शब्दचित्र रामायण में खींचा है, वह आज भी एक आदर्श मूर्ति की अवधारणा प्रस्तुत करता है-

समः समविभक्तांगः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षः विशालाक्षो लक्ष्मीवान्शुभलक्षणः ॥

वैष्णव कवियों एवं आचार्यों ने विष्णु और उनके अवतारों के शारीरिक सौष्ठव का ही वर्णन नहीं किया, वरन् उस सौष्ठव पर रीझती नर-नारियों की दशा का भी वर्णन किया है। तुलसीदास ने मानस में जनक की वाटिका में रमण करते समय राम और लक्ष्मण की शोभा का वर्णन एक साखी के द्वारा कुछ इस प्रकार कराया -

देखन बाग कुँअर दुइ आए, बय किसोर सब भांति सुहाए।
स्याम गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥

राम और लक्ष्मण की शोभा का वर्णन करने में सखी स्वयं को असहाय पा रही है। क्योंकि उसकी जिन आँखों ने यह दृश्य देखा, वे इस वर्णन में असमर्थ हैं और जो वाणी इस सौंदर्य का वर्णन करेगी, वह वाणी देखने में लाचार है। यह अनिर्वचनीय सौंदर्य है। वैष्णव ग्रंथों ने श्रीहरि की ही शोभा का वर्णन किया हो ऐसा नहीं है। इनमें नगरों और पुरों की शोभा, वापी और तडागों का सौंदर्य, सायं एवं प्रातःकाल की सुषमा, वनों और नदियों तथा समुद्रों का वर्णन भी काफी चित्ताकर्षक ढंग से किया गया है। तुलसीदास ने जनकपुर की शोभा में आदर्श नगर को, शरद् वर्णन में वास्तविक ऋतु को तथा पंपासर वर्णन में कृत्रिम जलाशय की शोभा को पाठक के आँखों के सामने लाकर खड़ा कर देने की हद तक सफलता पाई है।

महाभारत में राजमहल और राजसभा, रथों, हाथियों, नृत्यांगनाओं, ललनाओं, वीरों और वणिकों के वर्णन का मणिकांचन संयोग है। इसमें श्रीहरि विष्णु और लक्ष्मी का वर्णन एक आदर्श दंपती के रूप में कई बार हुआ है। इस ब्याज से भी पारिवारिक मर्यादा के सुंदर पक्ष पर महाभारत ने प्रकाश डाला है। लक्ष्मी की उत्पत्ति और उनकी अलौकिक शोभा का भी वर्णन पाया जाता है। महाभारत में लक्ष्मी अपने श्रीस्थानों का वर्णन करती हैं। उन्होंने बताया है कि मैं शरीरभूता एवं अनन्यचित होकर केवल नारायण (विष्णु) के साथ ही सम्पूर्ण भाव से निवास करती हूँ।

नारायणे त्वेकमना वसामि सर्वेण भावेन शरीरभूता।
तस्मिन् हि धर्मः सुमहाननिविष्टो ब्रह्मण्यता चात्र तथाप्रियत्वम् ॥

महाभारत, 13/11/20

श्रीकृष्ण भारतीय सौंदर्य एवं कलादृष्टि के सबसे बड़े आलंबन हैं। बुद्ध को मूर्तिशिल्प में अत्यंत लोकप्रियता मिली, तो श्रीकृष्ण को कलाओं के हर रूप में समादर प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण को मधुरता की मूर्ति मानकर वल्लभाचार्य ने मधुराष्टकम् की रचना की। इसमें श्रीकृष्ण को मधुरता का अधिपति-मधुरापति कहा गया है। एक श्लोक द्रष्टव्य है-

गुज्जा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा।

सलिलं मधुरमं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥

श्रीकृष्ण का अवलंब लेकर साहित्य के विभिन्न अंगोपांग पुष्ट हुए हैं। परन्तु लोक संस्कृति और लोक साहित्य ने श्रीकृष्ण और उनकी लीलाओं को अपने वर्णन का विषय बनाकर वैष्णव सौंदर्यबोध को व्यापक आधार दिया है। हमारी लोकसंस्कृति में श्रीकृष्ण श्याम के नाम से पुकारे जाते हैं और उनकी मंजुल मूर्ति ध्यायी जाती है।

षोडश श्रृंगार तथा छप्पन व्यंजन सुरुचिपूर्णता की विशेष अभिव्यंजनाएँ हैं। वैष्णव नवधाभक्ति इसमें नया उन्मेष लाती है। भगवान विष्णु और श्री लक्ष्मी का मंदिर अपनी शोभा और कांति में अपना उदाहरण आप ही है। माथे पर तिलक, गले में मोतियों की माला, हाथ और पैरों में आभूषण लिए श्रीविग्रह का वाह्यपक्ष शोभित होता है। होठों पर रचित मंद मुस्कान तथा कृपा कटाक्ष श्रीविग्रह की आंतरिक शोभा को उद्घाटित करने वाली चेष्टाएँ हैं। श्रीराम का पराक्रम और उनकी शरणागत वत्सलता हमारे जातीय इतिहास की स्मृति में बार-बार जागृत होने वाले सदगुण हैं। इन सदगुणों के बिना किसी व्यवहारगत सौंदर्य की क्या कल्पना भी की जा सकती है। मंदिरों को सजाने के लिए अल्पना और रंगोलियाँ बनाना, दीवारों पर भित्तिचित्र सजाना तथा छतों एवं मंदिरों के शीर्ष पर पताकाएँ लगाना- भारतीय सौंदर्य दृष्टि के पोषक तत्व है। इन क्रियाओं का विकास वैष्णव भाव के साथ हुआ है।

भारतीय सौंदर्यबोध एक समग्र भावबोध है। इसमें आँखों को सुख प्रदान करने वाले दृश्यों की रचना का विधान तो है ही, कानों को रमणीय लगने वाली स्वरमाधुरी का प्रबंध भी। वैष्णव कीर्तनों का छंद विधान और उनकी संगीत योजना लालित्य की दृष्टि से अद्भुत प्रतिभा के उदाहरण है। इस सम्बन्ध में महाकवि जयदेव के गीतगोविन्द को एक अनुपम ग्रंथ कहा जा सकता है। इसमें न सिर्फ कृष्ण हैं, न मात्र उनके साथ उनकी लीलासहचरी श्रीराधा हैं, वरन् सारी सृष्टि, वनलताएँ हैं, यमुना हैं, मानने और रूठने की वृत्तियाँ हैं, मनाने और दुलारने की चेष्टाएँ हैं। इस काव्य में भाव सौंदर्य पद-पद में अभिव्यक्त है। एक उदाहरण ले सकते हैं-

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदन मनोहर वेशम्।
न कुरु नितंबिनि गमन विलम्बमनुसरतं हृदयेशम् ॥

ध्यान देने की बात है कि गीतगोविन्दम् मात्र एक काव्य कृति ही नहीं है, जिसे पढ़कर सहृदय काव्यानंद प्राप्त करें। इसने सम्पूर्ण उत्तर-भारत की नृत्यकला पर अपना गम्भीर और व्यापक प्रभाव डाला है। मणिपुरी तथा ओडिशी नृत्यशैलियाँ गीतगोविन्दम् की अष्टपदियों की जब भावपूर्ण प्रस्तुति करती हैं, तो श्रीकृष्ण की रूप और भंगिमा की माधुरी श्रीराधा के संयोग से अपूर्ण रसानुभूति का कारण बनती हैं। गीतगोविन्दम् काव्यकृति तो है ही, संगीत के विभिन्न रागों में निबद्ध गायन एवं नर्तन का सहायक ग्रंथ भी।

वैष्णव आचार्यों ने विष्णु की व्यापकता के साथ-साथ उनके साकार रूप की चर्चा के प्रसंग में और उनके अवतारों के लीला गायन के संदर्भ में जो विधान किए हैं, उनमें सौंदर्य की भारतीय अवधारणा लगातार पुष्ट होती जा रही है। इस सम्बन्ध में वात्सल्य रस के सिद्ध कवि एवं भक्त श्री सूरदास की चर्चा अपरिहार्य हो जाती है। सूरदास ने श्रीकृष्ण के बालरूप का वर्णन करते समय नंदबाबा के महल और उसके प्रांगण की शोभा का भी उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में सूरदास ने विभिन्न प्रकार के अलंकारों एवं प्रसाधनों की चर्चा भी यत्र-तत्र की है। 'अंखियाँ हरि दरसन की प्यासी' कहकर सूर ने शोभासिंधु को निरखते रहने की कामना व्यक्त की है।

सूरसागर के दसवें स्कंध में श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव और उससे जुड़े संस्कारों का विस्तृत वर्णन तत्कालीन लोकाचार का एक दस्तावेज सा है। उन्होंने तत्कालीन ललित कलाओं के विषय में भी लिखा है। मथुरा, गोकुल, द्वारका आदि नगरों के वर्णन क्रम में उन्होंने नगरों की शोभा का, विन्यास का और उसके निवासियों की जीवन शैली का सूक्ष्म वर्णन स्थान-स्थान पर किया है। ये वर्णन आने वाले समय में सौंदर्य के मानक बने तथा परवर्ती काल

में चित्रकला की प्रेरणा सिद्ध हुए। श्रीकृष्ण और उनके लीलामय जीवन से सम्बंधित जो चित्ताकर्षक झांकियाँ, मूर्तियाँ, चित्र, नृत्य अथवा नृत्यगीत हम आज देखते हैं, उनके रूपायन में सूर और उनके समानधर्मा वैष्णव कवियों की महत्वपूर्ण भूमिका है। सूर ने श्रीकृष्ण की लीलाओं के गान में अपना जीवन लगा दिया और कहते हैं- शरीर छोड़ते समय भी उनके होठों पर श्रीकृष्ण की रूप माधुरी का रसगान ही विराज रहा था-

खंजन नयन रूप रस माते।

अतिसय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते
चलि-चलि जात निकट श्रवननि के उलट फिरत तांटक फंदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके न तरु अब उड़ि जाते।

श्रीहरि विष्णु और उनके अवतारों का अवलंब लेकर भारत में जिस सौंदर्य दृष्टि का विकास हुआ है, उसमें नित नवीनता के भाव को प्रधानता दी गई है। विद्यापति का एक संदर्भ यहाँ दिया जा सकता है-

सखि, कि पूछसि अनुभव मोए।

सह पिरिति अनुराग बखानिअ, तिल तिल नूतन होए।
जनम अवधि हम रूप निहारिल, नयन न तिरपित भेल,
सेहो मधुर बोल श्रवनहि सूनल, सुति पथ परस न गेल।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार सौंदर्य दर्शन आनंदवाद के साथ मौलिक रूप से सम्बद्ध है। इसका मूल उद्देश्य अरूप तथा चिन्मय तत्त्व को रूपायित करना है। इस काम में अन्य वादियों की अपेक्षा विष्णुवादियों को गौरव मिला है। इसका कारण क्या है, यह किसी स्वतंत्र अध्ययन का विषय बन सकता है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय सौंदर्यबोध ने विष्णु का आश्रय लेकर अद्वंद्व एवं सामरस्य की स्थापना का प्रयास किया है। यही सौंदर्य जब अभिव्यक्त हुआ, तो रूप- अनुभूत हुआ तो आनंद कहलाया।

लोक संस्कृति के अभिप्राय

डॉ. विद्या विन्दु सिंह

भारतीय लोक-साहित्य के विचारकों ने अंग्रेजी के 'फोकलोर' शब्द के लिए 'लोकवार्ता' शब्द का प्रयोग किया है, पर यह शब्द उतना समर्थ नहीं लगता कि इसमें हमारे 'लोक' की सम्पूर्ण कल्पना आ जाय। इसके लिए 'लोक-संस्कृति' शब्द अधिक सार्थक लगता है। 'लोकवार्ता' भी इसके अन्तर्गत समाहित हो जाती है। पर 'लोकवार्ता' शब्द अब व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

पाश्चात्य विद्वान् स्टिथ थामसन ने फोकलोर के अभिप्रायों (मोटिफ) का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, वह स्तुत्य और सराहनीय है। उन्होंने अभिप्रायों को देखने की वैज्ञानिक दृष्टि दी और विश्व के अभिप्रायों का विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत किया।

अभिप्राय वस्तुतः किसी भी साहित्य या कला की आशुलिपि की भाषा है। उदाहरण के लिए संदेश वाहक के रूप में हंस के उपयोग की बात आती है। वस्तुतः हंस अपने ही मन का एक उड़ान लेने वाला अंश है और वह तीव्रता के कारण प्रेम के पात्र तक पहुँचकर अपने प्रेम की सूचना अंकित कर देता है। इसको 'हंस अभिप्राय' के रूप में व्यक्त किया जाता है। अभिप्राय एक प्रकार से प्रतीक, व्यंग्य, सादृश्य-योजना, मिथक रचना, लोक-व्यवहार, समाज-रचना, धार्मिक एवं लोक-विश्वास तथा इतिहास, इन सबको ध्यान में रखते हुए ही किसी साहित्य या कला में स्वीकृत होता है। अतः अभिप्राय के अध्ययन के द्वारा किसी साहित्य की सांस्कृतिक साभिप्रायता का अध्ययन सुगम हो जाता है।

'डिक्शनरी ऑफ फोकलोर' में अभिप्राय की यह परिभाषा दी गई है- 'अभिप्राय उस शब्द को अथवा साँचे में ढले हुए उस विचार

को कहते हैं, जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मनःस्थिति में और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है।' अभिप्राय की अन्य परिभाषा इस प्रकार है- 'कहानी का वह तन्तु जो कथा की दृष्टि से कोई वैशिष्ट्य रखता हो और उसमें लोक मानस की झलक मिलती हो, वह अभिप्राय है।'

वर्न ने कथा मानक का रूप देकर उसके चरण भी दिये हैं। इन चरणों की यात्रा का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि किसी कहानी में अन्य कहानी के चरण जुड़ने से कथा मानक का नया स्वरूप बन जाता है। इन चरणों में अभिप्राय भी मिलते हैं। प्रायः

एक चरण एक अभिप्राय भी होता है। कथा तन्तुओं के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कितने चरण आवश्यक होते हैं, इनका भी ध्यान रखना आवश्यक है। कुछ चरण केवल गति देते हैं, कुछ अलंकृत करते और रोचक बनाते हैं। इन्हीं में अभिप्राय होते हैं जो कथा के लिए विशेष महत्वपूर्ण होते हैं। प्रत्येक लोकाभिप्राय में लोकमानस की झलक भी मिलती है। कुछ अभिप्राय समाज की रूढ़ मान्यताओं पर व्यंग्य भी करते हैं।

अंधविश्वासों, ढकोसलों आदि के अभिप्रायों, त्रियाचरित्र, मनुष्य की स्वार्थपरता आदि के अभिप्राय इसी कोटि में आते हैं। 'अभिप्रायों' में अभिव्यक्त ये भावनाएँ, लक्षण, चारित्रिक तथ्य, परिस्थितियों के द्वन्द्व एवं समाहार उस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से जुड़े होते हैं। अतः उस संस्कृति का अनुभव किये बिना सही निर्णय पाना कठिन है।

प्रश्न उठता है कि लोकाभिप्रायों के उपयोग की सार्थकता क्या है? उत्तर स्पष्ट है कि इन अभिप्रायों से इनको प्रयोग करने वाली जातियों की परम्पराओं, आस्थाओं, विश्वासों आदि का अध्ययन करना सरल हो जाता है। कौन सा अभिप्राय एक देश से दूसरे देश द्वारा ग्रहण कर लिया गया है, इसका ज्ञान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए 'कमल' अभिप्राय भारत का है। पर उसका

प्रयोग विदेशों में उसी रूप में किया जा रहा है या भिन्न प्रकार से, इसका अध्ययन शोध का विषय है। भारतीय संस्कृति में अधिकांश नदियाँ स्त्रीलिंग और सागर पुल्लिंग हैं, जिसमें नदियों का विलय होता है। इस प्रतीक को विदेशों में भी स्वीकार कर लिया गया है। यूरोप में नदी को पुल्लिंग के रूप में जाना जाता था। अब उनके लोक-साहित्य में स्त्रीलिंग के रूप में स्वीकृत हो गया है, तो यह गृहीत अभिप्राय होगा। इसी प्रकार विभिन्न देशों के लोक-साहित्य में गृहीत अभिप्रायों के प्रयोग का अध्ययन करके हम मूल स्रोत तक पहुँच सकते हैं और विभिन्न देशों की संस्कृति के बारे में सही जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। शर्त यह है कि उस देश के व्यक्ति अपनी संस्कृति के बारे में अध्ययन करके सामग्री प्रस्तुत करें।



अभिप्रायों के अध्ययन के प्रारम्भ में स्थित थामसन ने लिखा है- 'पिछली शताब्दी में लोक कथाओं के अनेकानेक संग्रह विभिन्न देशों में प्रकाश में आ रहे हैं और संग्रहीत हो रहे हैं। यह संग्रहीत और प्रकाशित सामग्री इतनी अधिक है कि अपने जीवन काल में सभी का अध्ययन और अनुशीलन सम्भव नहीं लगता। एक व्यक्ति कितना भी गम्भीर प्रयत्न करे, सम्पूर्ण सामग्री के आधार पर किन्हीं विशिष्ट नियमों तक पहुँच पाना उसके

लिए कठिन है। इसलिए उन्होंने अभिप्राय अनुक्रमणिका बनाने का कार्य प्रारम्भ किया और एक विस्तृत सूची तैयार हुई जो सन् 1955-1958 में 6 खण्डों में प्रकाशित हुई। जिसमें विश्व भर की लोक कथाओं, कथागीतों, धर्म कथाओं, पशुकथाओं, मध्यकालीन रोमांस काव्यों, स्थानीय अवदानों आदि से वर्णक्रमानुसार अभिप्रायों की अनुक्रमणिका तैयार की गयी।

प्रसिद्ध अमरीकी भाषाविद् मारिस ब्रूमफील्ड ने अभिप्रायों का अध्ययन संस्कृत के कथा संग्रहों के आधार पर किया। उनकी योजना समस्त भारतीय लोक कथाओं का एक कोश तैयार करने की थी। वह अधूरी रह गयी।

ई० डब्ल्यू० बर्लिंगन ने सन् 1921 में 'बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स' नामक पुस्तक में जातक कथाओं में आने वाले अभिप्रायों की एक लम्बी सूची दी थी। फ्रेजर ने 'गोल्डेन बारू' नामक पुस्तक में लोकवार्ता के विविध पक्षों और आदिम परम्पराओं का विवेचन किया है। इसी शताब्दी में एंटी आर्ने नामक विद्वान ने अत्यन्त उपयोगी वर्गीकृत सूची निर्मित की।

इसमें यूरोप की आठ सौ कथाओं को व्यवस्थित किया गया है, पर उसमें केवल बारह यूरोपीय देशों की कथाओं का समावेश ही हो सका। इनके मूल में यूरोप की सांस्कृतिक एकता का सूत्र ही चलता रहा है। इनके मानक रूपों में अन्य देशों से भिन्नता है। अतः इनका वर्गीकरण अन्य देशों के लिए अपर्याप्त है।

अभिप्रायों के वर्गीकरण के समय स्टिथ थामसन को जो सामग्री प्राप्त थी, उसमें भारत के लोक-साहित्य की सामग्री कम थी, क्योंकि तब तक यहाँ की इतनी सामग्री प्रकाश में नहीं आ पायी थी। आज समस्या उठती है कि हमें जो नये लोकाभिप्राय मिलते हैं, उन्हें स्टिथ थामसन के वर्गीकरण में कहाँ स्थान दिया जाये। इसलिए आवश्यकता है कि भारतीय अभिप्रायों की अनुक्रमणिका अलग से बनायी जायें। मेरियालीश और जेरीमफील्ड के प्रयत्नों से 'डिक्शनरी ऑफ फोकलोर' 'माइथोलॉजी एण्ड लिजेन्ड' नाम का 'लोकवार्ता कोश' प्रकाशित हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतीय लोकवार्ता कोश की महती आवश्यकता बतायी है। लोकवार्ता कोश की ही भाँति अभिप्राय अनुक्रमणिका भी भारतीय परिवेश में तैयार करके अभिप्रायों का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

भारतीय विद्वानों ने इस क्षेत्र में जो प्रयत्न किये, उनके सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा करना चाहूँगी। स्व. डॉ. सत्येन्द्र ने कथामानक, कथानक रूढ़ियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन की दिशाएँ दी हैं। डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय ने लोक सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन करते हुए नृतात्विक संदर्भ परम्परा के प्रवाह में लोक और लोक समाज, लोक जीवन तथा लोक संस्कृति की ओर संकेत किया है। डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा ने लोकवार्ता विज्ञान में इस दृष्टि से विषद विवेचन प्रस्तुत किया है।

एक पाश्चात्य विचारक एन्ड्रुलॉग ने कहा है- 'लोकवार्ता केवल अवशेष ही नहीं है, वह जीवित विषय है।' निश्चय ही नृतत्वशास्त्र, जाति शास्त्र और आदिम जनजीवन के सम्बन्ध में लोकाभिप्रायों का अध्ययन अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगा।

कैलीफोर्निया के विद्वान प्रो० एलेन डण्डेस ने लोक शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि लोक शब्द किसी भी ऐसे समूह का द्योतक हो सकता है, उसकी कोई एक भाषा हो सकती है या उसका कोई एक धर्म हो सकता है। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस समूह की कुछ अपनी निजी परम्पराएँ हैं। भारतीय लोक साहित्य के अभिप्रायों के अध्ययन के कुछ प्रमुख आधार बनाये जा सकते हैं, जो तुलनात्मक दृष्टि से पूरे विश्व के अभिप्रायों के अध्ययन में सहायक हो सकते हैं।

'लोक साहित्य का अध्ययन' पुस्तक में डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय ने भी पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों की चिंतन दृष्टि के आधार पर लोकवार्ता के अध्ययन के कुछ आधार बताये हैं। परम्परामूलक आधार पर कुछ लोकतात्विक अवशेषों की एक सूची तैयार की जा सकती है।

लोककथाओं में कुछ अभिप्राय ऐसे मिलते हैं, जैसे रक्त छिड़कने से पुनर्जीवन, रक्त बूँद गिरने से पेड़ पौधों का उगना और उनको काटने से पुनः जीवित उस पेड़ से निकलना आदि। रक्त चूसने वाले दानव, भूत, डायन आदि का वर्णन, नायक का ऐसी विकट आपत्तिजनक स्थितियों में पहुँचना, नायक की विवाह से पूर्व कठिन परीक्षा आदि से सम्बन्धित अभिप्राय आदि मानव के जीवन इतिहास की ओर संकेत करते हैं।

अनुष्ठान मूलक आधार पर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त धार्मिक अनुष्ठानों में समानता की खोज करना अध्ययन का अभीष्ट हो सकता है। साहित्यिक आधार पर विभिन्न देशों की लोकवार्ताओं, कथारूपों, कथाभिप्रायों, रूपान्तरों आदि के संदर्भ में विवेचन कर लोकगीतों, लोककथाओं आदि की शैलीगत प्रवृत्तियों के आधार पर साहित्य में हुए प्रयोगों को भी अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है।

प्रतीकों के आधार पर लोकाभिप्रायों का अध्ययन भी एक विशिष्ट और सार्थक अध्ययन होगा। जैसे लोक कलाओं में अभिव्यक्त अभिप्राय 'स्वस्तिक' 'कोहबर' 'कुसबढ़ाव' तथा व्रत कथाओं से सम्बन्धित विभिन्न भित्तिचित्रों आदि के अभिप्रायों का अध्ययन भी विशेष महत्त्व रखता है।

मनोवैज्ञानिक आधार पर भी कुछ अभिप्रायों की खोज की सार्थकता है। फ्रायड ने तो लोक कथाओं के विभिन्न अभिप्रायों को मनुष्य की दमित वासनाओं का परिणाम माना था। पर इसके अतिरिक्त मानव की आकाँक्षाओं और स्वप्नों के आधार पर भी अभिप्राय मिलते हैं।

लोककथाओं में प्रायः 'बालक' अभिप्राय बहुत आता है, कभी वह राजपुत्र के रूप में, कभी जादूगरनी के पुत्र के रूप में, तो कभी पुष्प या फल के रूप में या पक्षी या जीव-जन्तु के रूप में भी। यहाँ तक कि बैंगन या घड़े तक को पुत्र बनते हुए कथाओं में दिखाया गया है। उसी प्रकार नेवला, चूहा और बन्दर का बच्चा भी पुत्र की भूमिका अदा करता है।

सांस्कृतिक आधार को दृष्टि में रखते हुए धार्मिक अनुष्ठान और अन्य संस्कारों के समय के लोकाचारों, लोकगीतों, लोककथाओं आदि में किसी देश की संस्कृति के आधार की खोज की जा सकती है। उदाहरण के लिए भारत कृषि संस्कृति को उजागर करता है।

कार्य मूलक आधार पर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लोकवार्ता के चार प्रयोजन बनाये गये हैं। आमोद-प्रमोद के साधन के रूप में रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों का समर्थन करके संस्कृति को स्थिर रखने में, ज्ञान प्रसार हेतु, रूढ़ जीवन को गति प्रदान करने में जैसे वाद-विवाद में गीतों, पहेलियों, ताने और व्यंग्योक्तियों आदि के प्रयोग में और कर्म की नीरसता को दूर करने के लिए श्रम गीतों के गायन आदि में।

जातीय गुण मूलक आधार-जैसे कुछ जातियाँ वीरता के लिए प्रसिद्ध हैं, कुछ अपराध वृत्ति के लिए, कुछ चतुराई और छल

के लिए। इसी प्रकार कुछ अपनी सरलता और मूर्खता के लिए भी। इस प्रकार अभिप्रायों के वर्गीकरण के समय यह आधार सहायक हो सकता है।

अभिप्रायों के साथ ही साथ प्रतीकों का यह उपयोग समग्र भारतीय कला दृष्टि के ही अनुरूप है। इस स्तर पर लोककला भारतीय कला से कोई अलग धारा नहीं है।

लोक कथाओं के अध्ययन से विभिन्न प्रतीकों के अर्थ खुलते हैं, जैसे कमल पुष्प कई प्रतीकात्मक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कबीर के जन्म के सम्बन्ध में कथा मिलती है कि वे लहरतारा



तालाब में खिले हुए कमल के हृदय से प्रकट हुए थे। भारतीय कला में कमल सृष्टि के बीज का प्रतीक है, क्योंकि विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा ही आदिसृष्टि हैं। कमल में पार्थिव तत्त्व भी हैं और जल तत्त्व भी। इन दोनों तत्त्वों के मिलन से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। सरस्वती ज्ञान की मुद्रा में कमल पर आसीन होती हैं। श्री एफ०डी० केवाश डच विद्वान ने 'गोल्डेन जर्म' पुस्तक में कमल के प्रतीक का विकास क्रम प्रस्तुत किया है और यह सिद्ध किया है कि कमल का जैसे आधा हिस्सा जल के भीतर रहता है- आधा ऊपर रहता है, आधा

व्यक्त- आधा अव्यक्त रहता है, वैसे ही सृष्टि भी आधी व्यक्त- आधी अव्यक्त रहती है। कमल की गाँठों में से जैसे नीचे ऊपर दोनों तरफ प्रसार होता है, वैसे ही सृष्टि में भी भीतर से बाहर समानांतर प्रसार होता है। भारतीय संस्कृति में कमल इसी सादृश्य के आधार पर सृष्टि का प्रतीक माना गया है।

लोककला और लोकसाहित्य में कमल और कमल-पत्र के प्रतीक का उपयोग भरपूर अर्थ में हुआ है। जहाँ कहीं अनन्त विस्तार की बात आती है और जीवन की निरन्तरता को द्योतित करना होता है, वहीं कमल और पुरइन का उपयोग चौक पूरने में या लोक गीतों में किया जाता है।

यद्यपि अभिप्रायों और प्रतीकों में यह अन्तर है कि प्रतीक अपने आपमें प्रतीयमान के अलावा कोई सार्थकता नहीं रखते।

जबकि अभिप्राय स्वयं में भी महत्त्व रखता है और अभिप्रेत के साँचे से निकलने वाली व्यंजना भी महत्त्व रखती है। तथापि यह बात केवल विश्लेषण के धरातल पर ही अधिक संगत है। अन्यथा अभिप्राय और प्रतीक एक दूसरे में ओतप्रोत और संश्लिष्ट रूप में ही लोकसाहित्य में मिलते हैं। यह संश्लेषण की प्रक्रिया किसी भी सर्जनात्मक व्यवहार में स्वाभाविक प्रक्रिया है।

प्रतीक विधान सांस्कृतिक आधार पर होता है और अभिप्राय विधान भी सामाजिक, सांस्कृतिक और परिवेशिक आधार पर होता है। दोनों में अन्तर उपयोग और लक्ष्य के स्तर पर होता है। अभिप्रायों और प्रतीकों के अध्ययन से न केवल लोक साहित्य की संरचना का मर्म खुलता है, बल्कि एक समृद्ध सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया भी इनके माध्यम से अच्छी तरह समझ में आती है। इसीलिए इनके अध्ययन के द्वार से संस्कृति और समाज को पहचानने का एक नया आयाम जुड़ गया है।

मिथक, बिम्ब और प्रतीक

मिथक, बिम्ब और प्रतीक निश्चय ही लोकवार्ता शास्त्र के महत्त्वपूर्ण विषय हैं और आदिम जन-जीवन के सम्बन्ध में अध्ययन के लिए अपनी भूमिका निभाने में महत्त्व रखते हैं।

कुछ लोग विज्ञान और साहित्य को या विज्ञान और पुराण को परस्पर विरोधी मानते हैं, इनके बीच कोई सम्बन्ध नहीं देख पाते। दूसरी ओर कुछ लोग पुराणों की वैज्ञानिकता की चर्चा करते-करते पुराण को विज्ञान ही बना देने पर तुले हुए हैं। स्व० रामदास गौड़ ने पुराणों में अवतारवाद को डार्विन के विकासवाद से जोड़ा है। जैसे सृष्टि में जल के जीवों से जल-थल दोनों में रहने वाले जीवों का, फिर थल वाले जीवों का, उनमें भी पहले अण्डजों का तब जरायुओं (गर्भाशय में पलकर उद्भूत होने वाले) का और सबसे अंत में मनुष्य का विकास हुआ। मनुष्य भी पहले नरसिंह था, तब वामन हुआ, तब वह आखेटक परशुराम फिर वह राम तब कृष्ण। कुछ लोगों को विज्ञान और साहित्य में बस तीन और छः का ही रिश्ता दिखायी पड़ता है। कुछ के अनुसार विज्ञान बड़ा ही क्रूर है, अमानवीय है, विज्ञान बड़ा स्पष्ट और साहित्य कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट है, विज्ञान में कल्पना वर्जित है और साहित्य में कल्पना के बिना काम नहीं चलने वाला आदि।

श्री विष्णुकान्त शास्त्री के अनुसार विज्ञान में कल्पना की छलांग ही पहले लगती है, फिर परिणामों से बात सत्यापित होती है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि विज्ञान तोड़ने वाला, विश्लेषण करने वाला और साहित्य जोड़ने वाला है। सारांश यह है कि विज्ञान और साहित्य को लेकर काफी बहस की जा चुकी है।

जो लोग समझते हैं कि यह युग विज्ञान का है, उनको लगता है कि साहित्य का युग लद गया, साहित्य का कोई भविष्य नहीं है। विज्ञान मानव चेतना का ऐसा चमत्कार है कि उसके आगे किसी दूसरे प्रकार के अनुभव पर से विश्वास उठ गया है, पर सच्चाई यह है कि ये एक दूसरे के पूरक हैं। ऐसा न होता तो विज्ञान के विद्यार्थी और क्रान्तिकारी भारतीयों में वैज्ञानिक (साईंटिस्ट) नाम से विख्यात स्व. अज्ञेय जी इतने बड़े रचनाकार न होते। एक स्तर पर सभी प्रकार के ज्ञान का आधार कल्पना है। समस्त ज्ञान-विज्ञान पहले एक मानसिक विकल्प के रूप में उभरते हैं, तब उनका पूरा आकार खड़ा होता है, फिर सभी की प्रक्रिया अलग हो जाती है। विज्ञान समझने के पदार्थों का विश्लेषण करता है, और तब उनमें सम्बन्धों का परीक्षण के द्वारा निर्धारण करता है। पुराण संक्षिप्त रूप में वस्तुओं को देखने का एक नक्शा तैयार करता है। साहित्य पदार्थों का इस दृष्टि से आकलन करता है कि वे कैसे एक दूसरे की ओर खिंच रहे हैं, पर खिंचते हुए उन्हें क्या सुख मिल रहा है, इसकी अनुभूति भी साहित्य कराता है। तीनों का लक्ष्य सम्पूर्ण विश्व के भीतर एक सम्बद्धता की तलाश है। साहित्य और विशेष रूप से लोक साहित्य में पुराण कई-कई रूपों में व्यक्त होता है। प्रत्येक आगे आने वाला पुराण पूर्ववर्ती पुराण को समेटकर पूरा करता है। रामकथा, कृष्ण कथा के विविध रूप और अन्य प्रसिद्ध पौराणिक आख्यानों की विविध प्रस्तुतियाँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि मिथ-मिथक या पुराण एक ही तत्त्व है।

पुराण के अर्थ में मिथक का प्रयोग चल पड़ा है। सबसे पहले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया है। पर कुछ विद्वान मिथक को अंग्रेजी के मिथ की छाया मानते हैं। स्व० वात्स्यायन जी ने पुराण शब्द को ही अधिक सार्थक माना।

पुराण साहित्य की भाषा के मुख्य उपादान हैं। इनके माध्यम

से हम पुराण-पुरुषों के कथानक, उनके चरित्र, आचरण की बात समझा सकते हैं, अशिव और शिव का भेद बता सकते हैं। किन युगीन परिस्थितियों में किन उदात्त गुणों की आवश्यकता होती है और कौन से गुण शाश्वत मूल्य रखते हैं, इनकी यह पहचान करा सकते हैं।

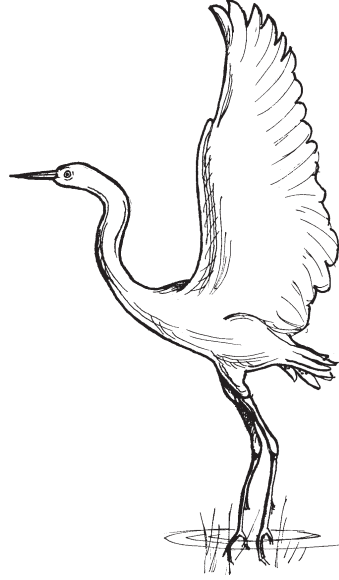
डॉ० विद्यानिवास मिश्र के अनुसार 'पुराण जातीय संस्कृति के विषय हैं, यह ऐसा रूप है जो चिंतन और विचार से उद्भूत होता है। इसी प्रकार साहित्य जातीय संवेदना का रूप है। दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता होती है। साहित्य का अनुशीलन यह अपेक्षा रखता है कि उसकी गहरी समझदारी के लिये उसके उपादान को लेकर निरन्तर अर्थ का अन्वेषण होता रहे, क्योंकि साहित्य-रचना रचनात्मक प्रक्रिया की एक शृंखला को जन्म देने वाली सृष्टि होती है, जब-जब यह रचना पढ़ी जाती है, जब-जब कोई नाट्य प्रस्तुति देखी जाती है, तब-तब वह रचना पाठक या प्रेक्षक के भीतर नयी रची जाती है। इस नव रचना या पुनः सृष्टि में तीन उपादान तत्त्वों का महत्पूर्ण योगदान है। ये उपादान तत्त्व भाषा के भीतर होते हुए भी भाषा के बाहर भी हैं, ये हैं- मिथक, बिम्ब और प्रतीक।'

मिथक जैसा आगे दिखलाने की कोशिश की जायेगी, सफलता या अखण्डता पाने का उपाय है, साथ ही वह देशकाल त्याग का अभ्यास भी है। साहित्य में जो एक देशकाल में संदर्भित उन्मीलित और प्रसृत होने के बावजूद देशकाल से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र की संवेदना को छूने की क्षमता प्राप्त होती है, उसके अनेक घटक साधनों में एक मुख्य साधन मिथक है।

आदिम जीवन से लेकर अब तक मनुष्य विश्व के साथ अपने सम्बन्ध को निरूपित करने के लिए घटनाओं को, परिस्थितियों को मोहक चौखटे में स्थापित करता रहा है। पृथ्वी को माता और आकाश को पिता या विष्णु के रूप में, सूर्य को पति और पृथ्वी को पत्नी के रूप में या पृथ्वी को गाय और धर्म को वृषभ के रूप में देखने के पीछे मूलतः अभिप्राय यही है कि प्रकृति को मानवीय

रिश्तों के ताने-बाने में रचकर आत्मीय बनाये तथा विश्व सृष्टि की परस्पर सम्बद्धता और सम्पूर्णता को बुद्धिग्राह्य बनायें। हमारी संस्कृति मिथक रचना की दृष्टि से बहुत उर्वर रही है। वह यह मानती रही है कि वेद का अर्थ समझना हो तो पुराण से ही समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में विश्व सृष्टि का रहस्य पुराणों की कथाओं के द्वारा अधिक आसानी से समझा जा सकता है। इसीलिए पुराण रचना या पुराण के नये अर्थ का अन्वेषण कभी बन्द नहीं हुआ।

श्री विष्णुकान्त शास्त्री के अनुसार- 'पुराण की नयी व्याख्या भी पुराण है। हम निरन्तर पुराण की रचना कर रहे हैं। लोक साहित्य में पुराण कथाओं का बड़ा संश्लिष्ट रूप मिलता है, उसमें महाभारत की कथा गुँथी और कहीं-कहीं एक के ऊपर दूसरी अध्यारोपित मिलती है, इसी के साथ ऐसी कथा भी मिलती है जो और कहीं नहीं मिलती।'



एक उदाहरण पर्याप्त होगा- एक गुजराती लोक कथा है- 'राम ने सोचा कि मेरा नाम 'राम' पत्थर पर लिख-लिखकर वानरों ने समुद्र में फेंका, वह तैरने लगा। मैं खुद अगर पत्थर फेंकूँ तो उसे भी तैरना चाहिए। उन्होंने पत्थर फेंका, वह डूब गया। राम बहुत उदास हुए कि राम नाम के बल पर सेतु रचना की बात सब झूठ है, राम का कोई महत्त्व नहीं है। श्री हनुमान ने देखा कि प्रभु उदास हैं। हनुमान बोले- 'प्रभु आपने भक्तों के विश्वास की परीक्षा लेकर ठीक नहीं किया। आपको भला कैसे अन्दाज लगेगा, भक्त के विश्वास की शक्ति का? आप तो भक्त हैं नहीं और दूसरी बात यह है कि प्रभु! जिस पत्थर को आपने अपने हाथ में लिया, वह निहाल हो गया, वह तो उमंग में आकाश छूने लगा होगा, और उसे आपने फेंका तो उसकी ग्लानि का अनुमान कीजिए, मैं ऐसा अभाग कि राम ने मुझे ग्रहण किया और फेंक दिया। वह पत्थर डूबेगा नहीं तो और क्या होगा।'

इस लोक मिथक में प्रभु राम, उनके अनन्य सेवक हनुमान और उनके बीच का सेव्य-सेवक सम्बन्ध तीनों का निरूपण इतने

सहज और मर्मस्पर्शी ढंग से हुआ है कि साधारण से साधारण व्यक्ति के लिये वह कठिन एकांत भक्ति एक क्षण के लिए ऐसी लगने लगती है कि बस हम भी वैसी भक्ति कर सकते हैं। इस प्रकार मिथक एक सेतु रचना का काम करता रहा है, साहित्य और उसके भावी ग्राहक के बीच।

बिम्ब मनुष्य की स्मृति और उसके रागात्मक सम्बन्ध के योग से चित्त में बनता है। हमने बचपन में जिस पेड़ के नीचे आँख-मिचौली खेली, उस पेड़ की स्मृति एक उन्मुक्तता की स्मृति जगाती है और वह पेड़ उन्मुक्त आश्वस्त भाव का बिम्ब बन जाता है। हल्दी की गाँठें हमारे बचपन में न्योते के रूप में भेजी जाती थीं, इससे हल्दी मांगलिक सूचना की स्मृति से जुड़कर मांगलिक बिम्ब बन जाती है। बिम्बों के सहारे चेतना के गहरे से गहरे स्तर उन्मीलित होते हैं। क्योंकि स्मृति ही मनुष्य के व्यक्तित्व की भी होती है, जाति की भी। जातीय स्मृति से जुड़े बिम्ब ही साहित्य के उपादान बनते हैं। लोक साहित्य के बिम्ब जातीय चेतना की ओर अधिक गहराई में जाते हैं। एक गीत में सीता के धरती प्रवेश के प्रसंग में यह आता है कि राम- सीता को मनाने आये, सीता ने कहा- ऐसे पुरुष का मुँह नहीं देखूँगी, जिसने गर्भावस्था में वनवास दे दिया। सीता ने धरती से विनती की-

*फाटहुं धरती हो फाटहुं धरती, धरती गायब होइ जाँव।
ऐसे निरमोहिया क मुँहवाँ न देखौं गरभे दिहिन बनवास।
फाटी हैं धरती समाये लगिँ सीता लपकि धरे राम केस।
यस सतवन्ती रे रानी सीतल देई, कुस कै सँथरिया होइ जाँय।*

फटो- हे धरती! फटो, मैं तुममें समा जाऊँ। धरती फटी, सीता समाने लगिँ। केवल लम्बे खुले केश ऊपर बचे रहे, राम उस केश राशि को पकड़कर सीता को ऊपर खींचने लगे, वे केश कुश हो गये।

अब कुश के साथ एक साथ कितनी ही जातीय स्मृतियाँ हैं, उसकी पवित्रता की, उसके बिना यज्ञ या आहुति पूरी नहीं होने की, उसके बिना किसी दान या उत्सर्ग का संकल्प पूरा न होने की, तीक्ष्णता की, बार-बार उन्मूलन किये जाने पर भी अक्षय बने रहने की और धरती की सहज सन्तान होने की। ये सभी स्मृतियाँ एक छोटे से बिम्ब से पैदा हो जाती हैं।

तीसरा उपादान है प्रतीक। प्रतीक भी जातीय सम्पत्ति है, पर वह रागात्मक चेतना का अंग नहीं है, वह शुद्ध रूप से बुद्धि का व्यापार है। मनुष्य की परिभाषा श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय ने कहीं लिखी है- मनुष्य होने का अर्थ प्रतीक सृष्टा होना है। उसने प्रतीक रचते-रचते ही भाषा पायी, क्योंकि भाषा प्रतीकों का ही तो संघटन है।

प्रतीक और बिम्ब में दूसरा अन्तर यह है कि बिम्ब मूलतः इन्द्रिय ग्राह्य है, सादृश्य के आधार पर माना कि बौद्धिक बिम्ब भी होते हैं, पर प्रतीक बुद्धि ग्राह्य मात्र है। तीसरा अन्तर यह है कि बिम्ब का महत्त्व बिम्ब के प्रत्यायन से या उससे उद्भूत स्मृति से कम नहीं रहता, जबकि प्रतीक का अपना महत्त्व प्रतीयमान को इंगित करके समाप्त हो जाता है। जैसे एक गोल पत्थर है, वह जब तक शिव का या विष्णु का प्रतीक बनकर नहीं पुजता, तब तक तो पत्थर है, पर जब वह नर्मदेश्वर या शालिग्राम बन जाता है तो उसका पत्थर रूप तिरोहित हो जाता है, अर्थ की दृष्टि से मानते ही वह देव हो जाता है।

मिथक, बिम्ब और प्रतीक ये तीनों प्रायः प्रत्येक साहित्य में संश्लिष्ट मिलते हैं। मिथकीय बिम्ब होते हैं, प्रतीकात्मक बिम्ब होते हैं, मिथकीय प्रतीक होते हैं, प्रतीकात्मक मिथक होते हैं, पर विश्लेषण की दृष्टि से इन्हें अलग-अलग समझा जाय और तब इनके संश्लेष को समझा जाये, तो साहित्य का अर्थ खोजने का कुछ दूसरा ही स्वाद हो जाता है।

लोक साहित्य के संदर्भ में इन तीनों उपादानों के विनियोग की चर्चा करके यह दिखलाने की कोशिश है कि साहित्य की रचना प्रक्रिया में इन तीनों का जितना योगदान है, उतना ही योगदान साहित्य के अर्थ ग्रहण और इस ग्रहण की प्रक्रिया में भी है। दूसरे शब्दों में कवि और भावक दोनों के लिए इनका महत्त्व है।

पहले मिथक को लें। जैसाकि संकेत किया जा चुका है, मिथक में देश और काल से किसी भी घटना को निकालकर स्थापित करने की चेष्टा की जाती है। उसे व्यापक देश और काल का चौखटा दिया जाता है। आदिम जीवन में इसलिए मिथक आवश्यक था जैसे कि पहला सूर्योदय देखकर क्या प्रतिक्रिया हुई।

अर्थात् उसे परिचित घटना से जोड़ते हैं। उषा काल सुन्दर लगा तो सोचा कि उषा बहू है, सज कर जा रही है, पीछे बारात है। उसके जीवन में विवाह जैसी संस्था आयी थी, और वैवाहिक सम्बन्ध में अपूर्व माधुर्य आ गया था। इसी सादृश्य के आधार पर मनुष्य ने प्राकृतिक व्यापार की अलौकिकता को समझने के लिए उसे लौकिक रूपक में बाँधा। मिथक का तीसरा उपयोग है, ऐतिहासिक घटना या पात्र को वर्तमान में लाने के लिए इतिहास से परे ले जाना। मिथक इतिहास का सीमित देशकाल में सनातन रूप है। उदाहरण लें- राम-कृष्ण इतिहास की चौहद्दी से बाहर आकर हमारे जीवन के सहचर हो गये हैं। अब उनकी लीला हमारे बीच, हमारे देशकाल में होती है, हम उसमें शरीक होते हैं। एक और उपयोग है मिथक का। जब कोई चीज बड़ा गहरा प्रभाव डालती है और उसके लिए शब्द नहीं मिलते, तब एक आघात पहुँचाने वाली, धक्का मारने वाली स्थिति का मिथक रचा जाता है।

जैसे ब्रह्मा का सरस्वती पर आसक्त होना। इसका एक दूसरा भी अर्थ है कि अपनी सृष्टि पर मोहित होना। ब्रह्मा के पीछे रुद्र दौड़े, रुद्र अव्यक्त हैं। अर्थ हैं, अनगढ़ी अव्यक्त सृष्टि है, वह व्यक्त सृष्टि में बाधक है। अव्यक्त और व्यक्त, असृष्ट और सृष्ट के भीतर के द्वन्द्व और तनाव से रचना होती है। रुद्र भीतर का आकाश है जो नहीं चाहते कि कोई भीतर का उद्वेग जाने। वे जुड़ाव को काटने के लिए आते हैं। ब्रह्मा मृग बन जाते हैं, शिव व्याघ्र बनकर पीछे दौड़ते हैं। इस दौड़ने में एक शाश्वत अन्तर्द्वन्द्व है कि रचना को रचें या अपने को रचने से रोकेँ। इसी प्रकार ऐसे धक्का मार मिथक रचे जाते हैं। सीता के सम्बन्ध में दूसरा मिथक यह है- रावण ने ऋषियों का वध किया और सप्तऋषियों ने वह रक्त घड़े में बन्द कर गाड़ दिया-‘ऋषियों की शोणित बूँदों से धरती ने सीता सिरजायी’। इस मिथक में ताप के साथ शोषण का ताप भी जुड़ गया। मिथक जातीय चिन्तन का एक बहुत उपयोगी और लचीला चौखटा है। इसके आधार पर अभिप्राय, बिम्ब और प्रतीक सब रचे जाते हैं। सीता की स्वर्ण प्रतिमा का मिथक देवी पुराण में मिलता है, जिसमें प्रतिमा प्राण-प्रतिष्ठा के बाद राम से आग्रह करती है कि अब मैं कहाँ जाऊँ? मुझे भी आपका संयोग चाहिए। राम ठहरे एक पत्नी व्रतधारी, उनके लिए यह संकट का विषय बन जाता है। वे कहते हैं कि अगले जन्म में तुमसे मेरा

संयोग होगा। राम ने वर दिया कि नित्य संयोग होगा राधा बनकर। पर जब मूर्ति जिद करने लगी तो शाप दिया कि नित्य वियोग रहेगा। इस कथा का अभिप्राय यह है कि मूर्ति भाव रूप है, राधा भी भाव रूप हैं। एकनिष्ठ प्रेम का उत्कृष्ट सार ही राधा का आकार ग्रहण करता है। राधा की देह ही भाव है, या कहें कि भावमय ही है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। राधा में संयोगात्मक-विप्रयोगात्मक दोनों रूप एक हो गये हैं।

राधा-रुक्मिणी, पार्वती-गंगा की प्रतिस्पर्धा के मिथक लोक साहित्य में मिलते हैं। रुक्मिणी में अभिजात्य का, पत्नीत्व का अहं है, इसीलिए स्नेह समर्पण में राधा उन्हें पीछे छोड़ जाती हैं। पार्वती और गंगा से सम्बन्धित मिथक में भी यही बात है। गंगा को इसीलिए शिव सिर पर बैठा लेते हैं कि उनमें सर्वस्व त्याग है, समर्पण है, उनमें पत्नीत्व का अहं नहीं है। वे पार्वती से कहती हैं कि तुम्हारी संतान पालूँगी, तुम्हारे पति की सेज पर पग नहीं धरूँगी, मुझे क्षमा करो। ये मिथक द्वन्द्व और समाधान दोनों प्रस्तुत करते हैं। दोनों में प्रतिस्पर्धा द्वारा संतुलन भी दिखाते हैं।

एक पौराणिक कथा में आता है कि राधा-कृष्ण के बालों को जोड़कर बनाये गये तार पर चढ़कर यमुना पार कर जाती हैं और छलनी हुए घड़े में जल भर लाती हैं। राधा-रुक्मिणी की प्रतिस्पर्धिनी मात्र नहीं हैं, वह रुक्मिणी की पूर्ति भी हैं। रुक्मिणी केवल अपने को साधकर केशों के तार पर चल सकती है, पर राधा अपने साथ-साथ घड़े को भी साधती हैं। श्रीकृष्ण के दिये हुए भाव घट को साधती हैं। इसलिए वह रुक्मिणी की पूर्ति हैं।

राम और कृष्ण के मिथकीय और लोक मिथकीय चरित्र में जो परस्पर विरोधी से रूप मिलते हैं, एक पत्नीव्रती और पत्नी परित्यागी का तथा दूसरा प्रेमी और निष्ठुर निर्मम योगेश्वर का, वह वस्तुतः विरोध का नहीं प्रतिपूर्ति का रूप है।

लोक साहित्य से ये उदाहरण मैंने इसलिए दिये हैं कि मिथक की प्रक्रिया शास्त्रीय परम्परा और लोक परम्परा में समान है, यह दिग्दर्शित हो। साथ ही यह भी दिग्दर्शित हो कि लोक मिथकों में साधारणीकरण की क्षमता कहीं अधिक है। बहुत ही रोचक अध्ययन का विषय बन सकता है कि लोक साहित्य में

मिथक किस तरह बदला है और उससे क्या सौन्दर्य आया है। जैसे धनुष यज्ञ क्यों किया गया, इसका कारण लोक साहित्य में दिया गया है कि सीता गोबर से भूमि लीप रही हैं और धनुष को उसके स्थान से बायें हाथ से हटाकर दाहिने हाथ से उसके नीचे की भूमि लीप देती हैं। महाराज जनक सीता का यह कौतुक देख लेते हैं और सीता के अलौकिक ओज से परिचित होकर प्रण करते हैं कि जो इस धनुष को तोड़ने में सफल होगा, उसी से सीता का विवाह करूँगा। राम के आने के साथ नये युग का आरम्भ होता है, इसलिए पुराने युग (धनुष) का टूटना एक प्रतीक है।

*बायें हाथे लिहीं सीता गोबरा दहिने हाथ लीपें
सीता लीपें बाबा चौपरिया त सिउ जी कै मन्दिर
बायें हाथे धनुहाँ उठायीं, दहिने हाथ लीपें हो,
रामा देखे हैं राजा जनक जी त मन अति अचरज हो।*

इसी प्रकार राम वनवास का कारण लोक साहित्य में सीता का एक छोटा सा प्रमाद बन जाता है। सीता घर-आँगन साधारण कृषक बहू की भाँति बुहारती हैं। कूड़ा-करकट घर से दूर न फेंककर पिछवाड़े डाल देती हैं। इसी से घर के पिछवाड़े एक बँसवारी उग आती है। राजा दशरथ सामान्य कृषक की भाँति उसी बँसवारी से बाँस काटने जाते हैं और उनकी अँगुली में काँटा चुभ जाता है। वे पीड़ा से छटपटाने लगते हैं। रानी कैकेयी आकर उनकी पीड़ा दूर करने का उपचार करती हैं और अँगुली की पीर हर लेती हैं। राजा दशरथ उनसे वर माँगने को कहते हैं। वे दो वर माँगती हैं- भरत को राजगद्दी और राम को वनवास।

दशरथ कराह कर कह उठते हैं- 'अरे कैकेयी रानी! तुमने यह क्या किया, अँगुली का काँटा निकालकर कलेजे में बाण मार दिया?'

इस प्रकार इस लोकगीत में यह बात स्पष्ट कही गयी है कि प्रमाद का परिणाम प्रत्येक को भोगना पड़ता है। सीता के दुख का कारण यह छोटी सी घटना बनती है। काँटे के बदले बाण चुभाने में काव्यात्मक विपर्यय हो जाता है। यह काँटा या बाण अधिक असह्य हो जाता है।

इस प्रकार इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पुराण न केवल

साहित्य का प्रेरक या सामग्री उपादान है, बल्कि वह साहित्य की अनुभूति से साहित्य के द्वारा नये सम्पूर्ण अर्थ की तलाश से रचा भी जाता है। दूसरे शब्दों में यदि पुराण से साहित्य का रूप बनता है तो साहित्य भी पुराण बनता है। इस प्रकार विज्ञान, पुराण, साहित्य तीनों ही एक दूसरे के रचनात्मक विकास में सहायक होते हैं और जब यह विकास कहीं अवरुद्ध होता है तो जातीय स्मृति की एक अखण्डता नष्ट होती है और साहित्य भी पूरी तरह से जातीय संवेदना से और विज्ञान के अनुभवों से जुड़ नहीं पाता और तब वह अपने ही समाज के लिए अजनबी हो जाता है।

प्रतीक और बिम्ब दोनों में अन्तर है जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है। प्रतीक का अपने आप कोई महत्त्व नहीं होता, प्रतीयमान का महत्त्व होता है। जबकि बिम्ब और बिम्ब का प्रत्यय दोनों स्वतंत्र रूप से बराबर महत्त्व रखते हैं। हरा रंग प्रतीक भी हो सकता है और बिम्ब भी। दृश्य-बिम्ब के साथ साहचर्य वर्षा का है। बिम्ब उदय से साहचर्य और सहानुभूति का ही योगदान प्रमुख है। जैसे पीपल के पेड़ का प्रयोग प्रतीक रूप में जो संस्कृति में स्वीकृत है, वह निरंतरता, सनातनता का वाचक होता है, इसलिए वह संतान का भी प्रतीक बन जाता है, क्योंकि संतान के माध्यम से सृष्टि की निरन्तरता अभिलषित है। प्रतीक के लिए संस्कृति आवश्यक है। पूरी जाति प्रतीक बनाती चलती है, जैसे स्वतंत्रता संग्राम के संघर्ष में स्वावलम्बी होने का प्रतीक चरखा है। ये सारी चीजें बिम्ब भी हो सकती हैं, जैसे चरखा कातती स्त्री तथा उससे जुड़ी कितनी ही चीजें लोक गीतों में आ गयीं-

चरखा कै टूटै न तार चरखवा चालू रहे

यह इसी शताब्दी का लोकगीत है। वर्षा का बिम्ब लोक गीतों में बहुत सजीव रूप से मिलता है। बूँद गिरना, पुरवा का झकझोरना तथा इसके साथ जुड़ा सहज उल्लासमय जीवन, यह झूले के साथ उद्भूत स्मृति रस की सृष्टि करना है। झूला और कदम्ब का पेड़ ये सभी इस स्मृति से जुड़े हैं। दोनों राधा और कृष्ण से जुड़े विराट सांस्कृतिक बिम्ब हैं। झूला चंचल मन का प्रतीक है, साथ ही उमंग का बिम्ब भी-

*'झूला पड़ा कदम की डारी, झूलें राधा प्यारी ना'
राधा झूलें कृष्ण झुलावें.....*

भाषा मात्र ही प्रतीक संघटना है। जैसा टिकाऊ उस पर भाव होता है, महत्त्व भी उतना ही होता है। मनुष्य का काम ही है प्रतीक गढ़ना। साहित्यिक भाषा में प्रतीक का महत्त्व और अधिक है, क्योंकि वह साहित्य और संस्कृति का वहन करती है। प्रतीक किसी वस्तु के कई गुणों को देखते हुए बनता है। प्रतीक और प्रतीयमान में कोई नियत सम्बन्ध नहीं होता- जैसे 'कमल' भारत में योग साधना का प्रतीक है, दूसरी संस्कृति में नहीं। सर्वत्र हो ऐसा कोई नियम नहीं।

कभी पीपल वृक्ष बिम्ब भी बन सकता है, घनी छाया का, बड़ी विस्तृत छाया का, पक्षियों के आश्रय का। साहचर्य जुड़ा होने से यही पीपल पैतृक स्नेह का बिम्ब बन सकता है, क्योंकि पीपल और पैतृक स्नेह दोनों का महत्त्व हम जानते हैं। बिम्ब में स्मृति जुड़ी होना आवश्यक है। इसलिए बिम्ब और बिम्बी दोनों का महत्त्व होता है।

साहित्य से कुछ उदाहरण देकर बात स्पष्ट करूँगी। एक उदाहरण है- कालिदास के 'कुमार सम्भव' में नारद हिमालय के पास संदेश लेकर आते हैं कि शिव ने पार्वती के लिए याचना की है। पार्वती सुन रही हैं, वे लज्जावश कुछ बोल नहीं सकतीं, बस हाथ में कमल था, उसके दल गिननें लगीं-

लीला कमलापत्रागणयामास पार्वती।

'हाथ में कमल' यह पद्मिनी नायिका का प्रतीक है, पर कमलों के दल गिनने के साथ एक चित्र जुड़ा है- अपने भाव के गोपन का, लज्जा का। एक निरर्थक से दिखने वाले व्यापार से ऐसा प्रदर्शित करना कि जैसे- नारद-हिमालय संवाद सुनकर पार्वती कहीं अपने आप में सकुचा गयी होंगी, सुन्दर चित्र है पर वह आत्मगोपन का मूर्त बनकर और अधिक रमणीय हो जाता है।

यहाँ कमल एक ओर नयी रचना, नयी सृष्टि का प्रतीक है तो दूसरी ओर कमल के साथ कई सह स्मृतियाँ हैं, सौष्ठवपूर्ण सौन्दर्य की सम्पूर्णता की, सरस्वती के आसन होने की, लक्ष्मी के निवास होने की, इनसे संश्लिष्ट होकर प्रतीक निरा प्रतीक नहीं रहता, वह एक सजीव बिम्ब बन जाता है, रमणीय सृष्टि का। इस प्रकार प्रतीक का बिम्ब रचना में उपयोग भी होता है। बिम्ब

विकास का एक सजीव उदाहरण लोक साहित्य से लें। एक प्रसिद्ध गीत है-

*बबा! निंबिया के पेड़ जिनि काटेउ, निंबिया चिरैया बसेर,
बिटियन जिनि दुख देहु मोरे बाबा, बिटियै चिरैया की नांय।
सगरी चिरैया रे उड़ि जइहैं बाबा, रहि जइहैं निंबिया अकेलि,
सगरी बिटियवे चली जइहैं ससुरे, रहि जइहैं मइया अकेलि।।*

इस गीत में नीम के पेड़ पर बसेरा लेने वाली, सुबह-शाम चहचहाने वाली चिड़ियों और घर की लड़कियों में सादृश्य भी है, साहचर्य भी। नीम के पेड़ से चिड़ियों के उड़ जाने के बाद जो नीम में सूनापन आता है, उसके साथ माँ का सादृश्य है, इसलिए लड़की की ओर से अनुरोध है। पिता! उस नीम के पेड़ को मत काटना, यह चिड़ियों का बसेरा है। नीम का पेड़ भरेपन और अकेलेपन का बिम्ब है, साकार मातृत्व का बिम्ब है।

दूसरा उदाहरण है यही नीम का पेड़ समय के अन्तराल का बिम्ब बनकर एक गीत में आता है-

*कउनी उमिरिया सासू निंबिया लगाइन,
कौनी उमिरिया गै बिदेसवाँ हो राम।
खेलत कूदत बहुअरि, निंबिया लगाइन,
रेखिया भिनत गै बिदेसवाँ हो राम।
फरि गई निंबिया, लहसि गई डरिया,
तबहूँ न आये मोरा बिदेसिया हो राम।*

बहू-सास से पूछती है- तुम्हारे दुलरूवा ने नीम का पेड़ कब लगाया था और कब वे परदेश गये? सास उत्तर देती है- मेरे बबुआ ने खेलती-कूदती उम्र में पेड़ लगाया था। वह रेख भिनते (मसँ भीगते) ही विदेश गया था। अर्थात् किशोरावस्था के थोड़े से पहले उसने लीला भाव से नीम लगा दिया था, किशोर होते ही विवाह हुआ। तुरन्त विदेश चला गया। फूलों से, पत्तियों से नीम का पेड़ झपस (भर) गया, पर परदेसी नहीं लौटा। नीम का पेड़ बढ़ा होने में दस-बारह वर्ष तो लगता ही है, इतना बड़ा अन्तराल पेड़ के फूलों और पत्तियों से झपसने से सूचित होता है। नीम का पेड़ प्रिय ने लगाया है, इसलिए यह भी रागात्मक सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है और प्रिय का स्पर्श पाकर बिरवा सफल हो गया। मैं ऐसी अभागिन

कि मैं निपात रह गयी। समय इतना बीत गया। इसका बीतना पेड़ से क्षण-क्षण धीरे-धीरे बढ़ने से जुड़ा रहा, इसलिए साथ भी रहा। इतनी सारी बातें इस बिम्ब से प्रतीत होती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि जितना सहज-अनायास रूप से बिम्ब ग्रहण होता है और उसके माध्यम से अर्थ ग्रहण होता है, उतने सहज रूप में सीधे अर्थ ग्रहण नहीं होता।

लोक साहित्य में बिम्ब ग्रहण के माध्यम से अर्थ की अनेक ऐसी तर्हें अपने आप उभरती चली जाती हैं, जो सीधे कभी भी अभिव्यक्त नहीं होती। एक उदाहरण और दूँगी।

*काहें बिनु सून अंगनवा ए बाबा काहें बिनु सून दुआर,
काहें बिनु सून पोखरवा ए बाबा, काहें बिनु सून लखराँव ।
धिया बिनु सून अँगनवाँ ऐ बेटी, पूत बिनु सून दुआर,
हंस बिनु सून पोखरवा ए बेटी, कोइलरि बिनु लखराँव ।*

इसमें दो समानान्तर स्थितियाँ हैं- एक मानवीय रिश्तों की, एक प्रकृति के अन्तःसम्बन्धों की, पर एक बिम्ब हंस का है जिसमें दामाद और हंस समानान्तर नहीं है, एक हो गये हैं। हंस के बिना पोखर सूनी होती है (जिसका संस्कृत तत्सम रूप है 'पुष्कर' पुष्कर वाली, कमल वाली) कमल अगर हंस का अधिष्ठान न बने, आनन्द यदि ज्ञान का अधिष्ठान न बने, तो वह व्यर्थ है। हंस ही तो कन्या के पिता को, कन्यादान को सार्थकता देता है, उत्सर्ग की सार्थकता देता है। वह एक साथ अनेक बातें बिम्बित करता है- समुज्वलता, सात्विक गुण, सम्पन्नता, ऊँचे उड़ान न भरना, धरती से जुड़े बिना आकाश का परिमापन नहीं करना। लड़की जिसे दी जा रही है, अपना आँगन सूना करके, वह पूरे गगन के विस्तार को भरने के लिए है। हंस यदि प्रतीक मात्र होता तो इतनी

बातें एक साथ नहीं उभरतीं। वह प्रतीक भी है, पर उसकी प्रतीकता बिम्बता में संश्लिष्ट होकर अधिक अर्थवती हो गयी है।

साहित्य, लोक साहित्य के संदर्भों से यही निष्कर्ष निकलता है कि मिथक, प्रतीक और बिम्ब साहित्य के समय के लिए एक धरातल तैयार करते हैं और इनकी साभिप्रायता समझकर ही साहित्य की साभिप्रायता अधिक स्पष्ट रूप से समझ में आने लगती है। साहित्य के ये प्रयोजन नहीं हैं, पर साहित्य के प्रयोजन की सिद्धि में ये बहुत ही महत्वपूर्ण उपकरण हैं। इनका प्रयोग वही कर सकता है, जो अपनी संस्कृति के रस में पगा हो, अपने परिवेश और अपने जन-परिजन के साथ-गहराई के साथ जुड़ा हो, केवल रस्मी और सतही तौर पर नहीं। वह अपने जीवन अनुभव का अंग बना चुका हो अपनी जातीय मिथक रचना को, जातीय स्मृति को और जातीय प्रतीक रचना को, तभी इसकी साभिप्रायता और इसके मर्म को वह समझ सकता है।

आज हम अपनी जमीन से निरन्तर कटते जा रहे हैं और अनेकानेक आधि-व्याधियों, तनावों और समस्याओं से जूझने को विवश हो रहे हैं। अब आवश्यक लगाने लगा है कि अपनी परम्परा की विरासत की ओर फिर से देखें, जहाँ जीवन मूल्यवान था, सौ शरद के स्वस्थ जीवन की मंगल कामना थी, प्रकृति से जुड़ाव और साक्षात्कार हमारी जीवन शैली में धर्म और आस्था से जुड़ा हुआ था। जीवन व्यवहार को सही दिशा देने के लिए इन मिथकों, प्रतीकों, बिम्बों और अभिप्रायों से जोड़कर शास्त्र और लोक दोनों अपनी बात कहते थे। आज इन सबके अर्थ आधुनिक संदर्भों से जोड़ते हुए तलाशने और जीवन व्यवहार में उन्हें उतारने की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता है।

तँवरघारी गीत : परम्परा एवं परिवेश

डॉ. सतीश चतुर्वेदी 'शाकुन्तल'

कृषि क्षेत्र तँवरघार ब्रज और बुन्देली के मध्य मुरैना जिले का एक विस्तृत भू-भाग है, यह तोमर वंशीय क्षत्रियों का क्षेत्र है, इनकी सर्वाधिक संख्या के कारण इस क्षेत्र को तँवरघार कहा जाता है। 'तोमर' नाम की वर्तनी विभिन्न रूपों में मिलती है, शिलालेखों और तत्कालीन संस्कृत ग्रंथों में वे तोमर कहे जाते हैं। समकालीन हिन्दी ग्रन्थों में यह नाम तँवर, तोवर, तुवर रूप में मिलता है। कुछ फारसी इतिहासों में तौर भी पढ़ा जाता है। पश्चिमी भारत के जैन विद्वान उन्हें तुंग लिखते थे। इतिहास में उनका शुद्ध नाम 'तोमर' ग्रहण किया गया।¹ तँवर घार के पूर्व में भिण्ड जिले के कछवाह घार और जादोन घार हैं।

भदावर के पूर्व में चंबल के दक्षिण किनारे-किनारे श्योपुर तक इसकी पश्चिमी और उत्तरी सीमा मानी गई है। तोमर आजकल अंबाह और मुरैना तहसीलों में सिमटे दिखाई देते हैं, जहाँ उनके अनेक ऐसे गाँव हैं, जिनमें उनके पुरोहित सनाढ्यों के अतिरिक्त अन्य किसी जाति का अस्तित्व केवल नाममात्र के लिये है, यह आज का तँवरघार है। कभी यह तोमरगृह (तँवरघार) दक्षिण में सिंधुपारा और लवणा के किनारे बसे हुए पवाया और नरवर तक फैला हुआ था। अब अंबाह तँवरघार का केन्द्र हैं। इसके पूर्व पश्चिम तथा उत्तर दक्षिण में फैला हुआ भू-भाग आज तँवरघार कहलाता है। इसके पूर्व में बुधारा, उत्तर-पूर्व में नगरा, पश्चिम में सिकरोड़ी, दक्षिण-पश्चिम में कुधियाना, दक्षिण में जींगनी तथा दक्षिण-पूर्व में कुतवार (बसैया) तँवरघार की सीमा तय करते हैं। चम्बल की अन्य दो सहायक नदियाँ कुँवारी एवं आसन भी इस क्षेत्र में बहती हैं।²

तँवरधारी ब्रज का सीमांत क्षेत्र है, ब्रज संस्कृति और तँवरधारी संस्कृति में बहुत साम्य है, किन्तु भाषिक दृष्टि से भिन्नता भी है। यहाँ की संस्कृति के पर्याय हैं- यहाँ के लोक-गीत, जिनमें राधा-कृष्ण के समावेश के साथ-साथ राजपूती प्रभाव भी है। यहाँ के लोकगीत तँवरधारी लोक संस्कृति के संवाहक हैं। लोकगीतों की चाशनी में पगकर यहाँ हर संस्कार का अवसर मधुर हो जाता है। तँवरधारी संस्कृति में भी ब्रज संस्कृति जैसा ही खुलापन और माधुर्य विद्यमान है।

लोकगीत जीवन के हर अवसर की निश्छल लयात्मक अभिव्यक्ति हैं। ये लोक संस्कृति का सरस प्रवाह हैं। इनमें सहज जीवन की अनुगूँज है। इनमें परम्परा गतिमान है और परिवेश मूर्तिमान। यहाँ कोई अकेला नहीं, संग साथ का हेला-मेला है, इसलिए इनमें रचयिता का भी निजी व्यक्तित्व नहीं होता। वह लोक मानस से तादात्म्य रखता है और ऐसी व्यक्तित्वहीन रचना करता है कि समस्त लोक का व्यक्तित्व ही उसमें उभरता है और लोक उसे अपनी चीज कहने लगता है। वह लोक अपना गीत होता है, जो परम्परा में पड़ जाता है और परम्परा उसमें समय-समय पर अनुकूल परिवर्तन करती है।^१

इन लोकगीतों में संयुक्त परिवार है, कुलदेवी, कुलदेवता हैं उनके साथ-साथ अन्य तीर्थ यात्राएँ हैं, जिनमें समूचा परिवेश जीवंत सहचर है, सहयात्री है। इनमें समूचा राष्ट्र है, राग-अनुराग है, ज्ञान-विराग है, रिश्ते-नाते हैं, तीज-त्योहार हैं, घर-चौबारे हैं, महल हैं, नदी-तालाब हैं, ऋतुएँ हैं, पर्वत-पठार हैं। रीति-नीतियाँ हैं, लोक-विश्वास हैं, बच्चों के खेल हैं, प्यार और अनबन है, धर्म का कोमल आँचल है, देश-परदेश है। रामायण-महाभारत के राम-सीता, राधा-कृष्ण एवं शिव-पार्वती हैं। लोकगीतों का यह संसार लोक का कंठहार है। लोक गीतों का सम्बन्ध स्त्री-पुरुष दोनों से है, इसलिए ये लोकरंजक हैं। किन्तु अधिकांश गीत महिलाओं के मुखारविंद से निःसृत होते हैं। ये देश-काल से जन्म लेकर बहुत दूर तक और देर तक मानव जीवन के सहयात्री रहते हैं। लय जीवन की पहचान है, रस है। जब-जब यह लय हमसे दूर होते दिखती है, हम प्रत्येक अवसर को उत्सवमय बनाकर, गीतों से श्रृंगारित कर आनंद और ऊर्जा से संयुक्त होने का मार्ग खोजते हैं।

तँवरघार में जीवन का कोई संस्कार, कोई रीति-रिवाज बिना गीत के पूरा नहीं होता। आज भौतिकता की आपाधापी में जहाँ सर्वत्र फिल्मी गीतों का शोर है, वहीं लोक जीवन में घर-आँगन, गली, कुएँ, तालाब, मंदिर में गाए जाने वाले लोकगीतों की स्वर लहरी परिवेश को माधुर्य से भरती है, ये लोकगीत हमारी जीवन-शैली के प्रवेश द्वार हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी जीवन के सुख-दुख को लोकगीतों का बीज मानते हैं।

तँवरघार लोक प्रकृति का सहचर है। स्त्री की पूर्णता मातृत्व सुख में है। घर-परिवार में असम्मान और लांछन की पात्र बांझ स्त्री को पुत्र प्रसविनी होने के लिए लोक देवी बैमाता (भाग्यविधात्री देवी) को मनाना है। वह छबरिया (बाँस की टोकरी) भरकर फूल मँगाती है। बैमाता को संतानदात्री माना गया है। अतः पुत्र जन्म के अवसर पर जच्चा से धरती माँ को हरी-हरी दूब अर्पित कराई जाती है। देवी-देवता, पितर, शंकर-पार्वती, राम-सीता, दुर्गा देवी, लाँगुर, हनुमान एवं श्रीकृष्ण राधा को दूब अर्पित कर पूजन कराया जाता है। हरी दूब जीवनी शक्ति की प्रतीक है-

हरी-हरी दूब लहालही धन्ती माताएँ दीजिओ।

हरी-हरी दूब लहालही देवी-देवतन को दीजिओ।

अऊत-पितरन को दीजियो, भोले बाबा को दीजिओ।^४

ब्रज के क्रियापद औकारांत होते हैं, जबकि इन गीतों में कहीं-कहीं कनौजी सीमांत भिण्ड क्षेत्र की बोली के प्रभाव स्वरूप औकारंतता मिलती है। 'नहीं' के लिए 'नानें' का प्रयोग तँवरधारी बोली की विशेषता है। जच्चा द्वारा अपने पति से आँगन और मधुवन में आम, इमली, जामुन, नींबू, अंगूर, छुआरे, नारियल, अनार आदि पौधे रोपने का अनेकशः आग्रह पर्यावरण प्रेम प्रदर्शित करता है।

तँवरधारी में जच्चा द्वारा पुत्री प्राप्ति की कामना लोकगीतों में नहीं मिलती। जन्म के बाद बुआ द्वारा नवजात कन्या शिशु की हत्या चंबल संभाग के कई अंचलों में आज भी प्रचलित है, इसीलिए मध्यप्रदेश में बालिकाओं का लिंगानुपात इसी संभाग में सबसे कम 1000 लड़कों पर 820 लड़कियों का है। तँवरधारी लोकगीतों में अनेक ऐतिहासिक तथ्य भी हैं। मुगलों के आक्रमण

के कारण शत्रु से मुकाबला करने के लिए कवच की तरह सुरक्षित अजेय पुत्र को जन्म देने की कामना विद्यमान है-

हमाओँ गाँमु बहू मुगलन ने घेरौ-पठानन नें घेरौ,
कैसे जनोगी, बखतरी लाल।
तिहारौ गाँमु दादा धिरौई रहैगी-धिरौई रहैगौ,
जन्मैंगी हौतो आजु, बखतरीलाल।।⁵

इस क्षेत्र में ही नहीं, समूचे उत्तर भारत में बहू के प्रति सास-ननद की कर्कशता प्रसिद्ध है। जायसी ने भी 'पद्मावत' में ससुर को दारुण और सास-ननद को कड़वे बोलों से प्राण हर लेने वाली बताया है। इससे बहू के मन में कटुता पैदा होती है। तँवरघार में 'सास तौ सोने की हू बुरी होइ' कहावत प्रचलित है। जच्चा गीतों में जच्चा की तमाम सावधानियाँ, खाद्य पदार्थ-हरीरा आदि की तैयारियों का वर्णन है। पुत्री को जन्म देने पर पति द्वारा अपमानित होने पर नारी स्वाभिमान की चेतना और अन्याय के प्रतिरोध का स्वर भी इन लोकगीतों में हैं। इनमें नैतिक मूल्य, सदाचार की शिक्षा, मितव्ययिता आदि के संकेत स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं। यहाँ के रूप में राम या कृष्ण कन्हाई और पिता राजा दशरथ और माँ रानी कौशल्या के रूप में अंकित हैं।

इन गीतों में प्रत्येक संस्कार के अवसर पर सर्वोत्तम की कामना के कारण लोकगीतों में पौराणिक देवी-देवताओं को स्थान मिला है, यहाँ वे भगवान नहीं बल्कि लोक के निकट हैं। खाने के बर्तन सोने के, चौकी चाँदी की और घर महल के रूप में वर्णित है। इन गीतों में पुत्र जन्म वाला आशीष, संयुक्त परिवार में ससुर, देवर, जेठ के व्यवहार की मर्यादाएँ निर्धारित हैं। इन गीतों में कुल वधुओं का सामंजस्य, सहनशीलता और निर्वाह की योग्यता आदि गुण स्पष्ट होते हैं, जो न्यूक्लीयर फेमिली की वधुओं में सर्वथा अप्राप्त हैं।

देवी दुर्गा, शीतलमाता एवं हनुमान यहाँ के लोक देवता हैं। विविध अवसरों पर इनके साथ-साथ अरुत पितरों के पूजन का भी विधान है। पुत्र जन्म पर जच्चा के पीहर से उसका भाई पछु लेकर आता है, जिसमें बच्चे को सोने की जंजीर, कपड़े तथा घर में सभी के लिये, मान्यों के लिए कपड़े आते हैं। इन गीतों में नाई,

ढीमर अपना कार्य संपादन कर नेग प्राप्त करते हैं। आज इलेक्ट्रानिक खिलौनों के युग में बच्चे को खेलने के लिए 'झुनझुना' की याद तँवरघार का यह गीत ही दिला सकता है-

मोहन प्यारे के हाथों सोने कौ झुनझुना।
बाके बाबा ने गढ़ाओ सोने कौ झुनझुना,
बाकी आजी खिलावे सोने के झुनझुना,
तुम खेलौ ललना।⁶

तँवरघार में बच्चे के मुंडन का गंगा घाट पर होना वर्णित है। इन गीतों में अन्न प्राशन में घर में बाबा-दादी लाड़ले को खीर चटाते हैं, जबकि आज बुजुर्ग परिवार के लिये अवांछित एवं अनावश्यक से हो गये हैं, जिससे वृद्धाश्रम बढ़ रहे हैं। ब्रज एवं तँवरघार दोनों क्षेत्रों में दादी द्वारा सरसों के तेल का काजल पारने एवं रात को परिवार के सभी सदस्यों को काजल लगाने की परम्परा रही है। बच्चे को नजर लगने पर उसके ऊपर राई-नमक उतारना, आग में सूखी मिर्ची डालकर नजर उतारते समय माँ देवी और हनुमान की दुहाई देती है। लोक विश्वास के अनुसार बच्चा ठीक हो जाता है-

म्हों झुरसों तेरौ
तैंने मेरे लला को नजरि लगाई।
तेरी आँखिन में मिरची झोंकों,
खसम होइ, चाँऐ लुगाई।
पाँइ परौं माता मैया के,
मेरे माँड़ा ऐ ठीक कद्दै,
बजरंग बली की दुहाई,
भूमिया देव की दुहाई।⁷

तँवरघारी विवाह संस्कार के गीतों में आस-पास के गाँव कस्बों के नाम स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं, क्योंकि पहले यातायात के साधनों के अभाव में विवाह सम्बन्ध बहुत दूरी में सम्भव नहीं थे। तँवरघार भौगोलिक दृष्टि से आँधी-पानी का क्षेत्र है, अतः गीतों में इनकी आशंका और इसे रोकने के लिए हनुमान जी की भक्ति प्रार्थना विद्यमान है। इन गीतों में विवाह के सभी संस्कार वर की तलाश, ढोलक पूजन से गौने की विदा एवं बधाई

से सम्बन्धित गीत हैं। इनमें राजा राम को वर के रूप में सीता को दुलहिन के रूप में और राजा दशरथ एवं राजा जनक का वर्णन है। इन गीतों में बाग लगाने और ताल खुदाने लिए जलपदे देवी से मदद की कामना मिलती है। तँवरघार में बाल विवाह की प्रथा आज भी प्रचलित है- 'बन्ना मेरो खेले बाग चक डोरिया।' विवाह में प्रतिस्पर्धा, प्रदर्शनप्रियता, शान के लिए अनावश्यक धन खर्च करना, इस अंचल की खास विशेषता है।

अवधी विवाह गीतों में जिस प्रकार पत्नी को छोड़कर पति के धनार्जन हेतु कलकत्ता आने का वर्णन मिलता है, उसी प्रकार तँवरघारी गीतों में दिल्ली-बम्बई का वर्णन है। बधाए के अनेक गीतों में नेग के रूप में हाथी, ऊँट, मोहरें देना आदि पर राजदरबारी संस्कृति का प्रभाव है। तँवरघार का खान-पान ब्रज का ही खान-पान है। उसमें घी की पूड़ियाँ, लड्डू, दही-बड़ा, गर्म रोटी, बासी साग, दूध-बताशा, रायता, मलीदा अनेक मिठाईयाँ एवं भोजन के उपरांत पान सम्मिलित है। तँवरघार का अतिथि सत्कार आज भी कम नहीं है। इसके लिए बानमोर से कत्था, धौलपुर से चूने, कश्मीर से केशर, आगरा-हाथरस से बूरा मँगाने का वर्णन है। वहीं वर के रूप में सजे रघुनंदन श्रीराम जी के पैरों में जूते जयपुर से और चढ़ने के लिए घोड़ी करौली (राजस्थान) से मँगाई गई है। इन्द्रलोक की यह घोड़ी दूध-रबड़ी खाती और यमुना जल पीती है। बरने का कमर में कटार बाँधकर घोड़ी पर चढ़कर जाना राजपूती शान का अनुकरण है।

तँवरघारी लोकगीतों में पशु-पक्षियों का सहयोग एवं उनके प्रति सम्मान दृष्टि सर्वजीव समावेशी संस्कृति का द्योतक है। कूकरा और मुरगा के गीत इसके उदाहरण हैं। उल्लेखनीय है कि दो वर्ष पूर्व लंदन में भारतीय हिन्दू रीति के विवाह को प्रथम पुरूस्कार से सम्मानित किया गया था क्योंकि इस विवाह पद्धति में घर-परिवार के समस्त सदस्य एवं सभी रिश्तेदारी की यथा स्थान भागीदारी रहती है। मान्यों में जीजा एवं फूफा का पद निश्चित है। भात के गीतों में हरदौल एवं भगवान श्रीकृष्ण को उनके प्रसंगों में याद किया गया है-

बनि गए बनि गए री भतैया घनस्यामु,
पटा पै ठाड़े बनवारी।

अपनी सासु-ननद बुलवाइ लै, दौरानी-जिठानी,
पार-परौसिन सिगए बुलाइलै, रामा काए को सकुचाती।
सिगु पैहरौ स्याम को भातु पटा पै ठाड़े बनवारी।⁸

भात के गीतों में भतइयों के चंबल के बीहड़ों में भटकाने वाले रास्तों का वर्णन है। अनेक गीतों में वर-वधू के शयन के लिए अट्टालिका (अटारिया) का वर्णन है, जो समूचे उत्तरी भरत के मकानों का एक अनिवार्य भाग होता है। बारात की निकरौसी के बाद रात को खोइया ब्रज की भांति तँवरघार में भी होता है। कन्यादान से पुण्य-प्राप्ति, पलकाचार के समय धान-बुवाई से नवदंपति के जीवन में समृद्धि का बना रहना आदि तँवरघार के लोक विश्वास है।

मुँह पर मुँछ तँवरघारी लोगों की पहचान है। गारी और ज्यौनार के गीतों से आज की अंग्रेजीदाँ पीढ़ी अपरिचित है। 'ग्रामीण क्षेत्रों में तो फिर गनीमत है, नगरों में तो पंचसितारा होटलों में विवाह-संस्कार जो सबसे महत्वपूर्ण संस्कार हैं, आफत की तरह सुलटा दिया जाता है। लोक गीतों को गाने-सुनने की न किसी को फुर्सत है, न रूचि। लोग धीरे-धीरे लोकगीतों और और रीति-रिवाजों को भूलते जा रहे हैं। संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं, एकल परिवार भी ध्वस्त हो रहे हैं, तलाक की संख्या बढ़ रही है, ऐसे में विवाह की गरिमा कौन याद रखे। नये जमाने की रफ्तार के साथ चलना बुरा नहीं है, आपाधापी की दौड़ में अपने गंतव्य, अपनी जमीन को भूल जाना श्रेयस्कर नहीं। आज हर व्यक्ति को शांति चाहिए, वह शांति हमें अपनी माटी की सुगंध से ही मिलेगी, पॉप म्यूजिक के शोर से नहीं। इसलिए हमें अपनी संस्कारशीलता, अपनी लोक संस्कृति की ओर लौटना होगा, अपने लोक गीतों से प्यार करना होगा।⁹ ये लोक गीत कुल वधुओं की मांगलिक अपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं।

'ऐ बाबुल मेरे काए कूँ ब्याई बिदेस' विदा का गीत तँवरघार में भी प्रचलित है। बेटी की विदा का यह हृदय द्रावक गीत है, जिसमें वह अपनी नियति के वश में, पराधीन अनुभव करती है-

तुमकों तो बीरा मेरे, देसु लिखौ ऐ,
हमकों लिखौ परदेसु। ऐ बाबुल

तुमकों तौ ताऊ मेरे, देसु लिखौ ऐ,
हमकों लिखौ परदेसु। ऐ बाबुल
तुमकों तौ चाचा मेरे, देसु लिखौ ऐ
हमकों लिखौ परदेस। ऐ बाबुल....¹⁰

तँवरघार में बेटी के विवाह के बाद गंगा स्नान की तथा बेटे के विवाह के बाद माँ-बाप के 'देवी की जात' करने की परम्परा है। मण्डप सिराने के बधाए गीतों में तालाब में पानी रहने के लिए परिवारजनों द्वारा ताल की पारि (किनारा) बाँधने का वर्णन मिलता है। तँवरघार में गर्मी की अधिकता के कारण बेटी को विदा करते समय हाथ से बना कलात्मक बीजना (पंखा) साथ रखा जाता है, इसलिए यहाँ बीजना के गीत भी हैं। गौने के बधायों में बहू, पत्नी प्रथा के संकेत प्राप्त होते हैं, जिससे नव विवाहित अपने पति के

सौत के पास होने की शंका से ग्रस्त हो जाती है। प्रथम मिलन की रात्रि के समय गाए जाने वाले गीतों में हास-परिहास और प्रतीकों के माध्यम से मिलन की बात कही गई है-

बधायौं श्रीराम के घर आयौं रे ॥
ससुर मेरे बाग के सुअना रे,
सासु मेरी आम की कैरी रे।
बाग कौ सुअना उड़ि आयो रे ॥
टोरि लई आम की कैरी रे। बधायौं..... ॥
साहिबु मेरे सेज के सुबैया,
सौति मेरी डोरे बिजरी रे।
सजन उठि सेज पै आयौं रे
भजाई दई सौति इकली रे। बधायौं ॥¹¹

संदर्भ

1. दिल्ली के तोमर, हरिहर नाथ द्विवेदी, पृ. 165
2. तँवरघारी बोली का लोक साहित्य,
3. हिन्दी साहित्य कोश : डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 594
4. 4 से 8 एवं 10-11 तँवरघारी संस्कार गीत : डॉ. भगवान सहाय शर्मा, पृ. 15 / 24/ 83/ 91/ 197/ 226/ 256
9. ब्रज की संस्कृति और कला वैभव- डॉ. शशि तिवारी पृ. 27

ग्रामकथा का शब्दऋषि - विवेकी राय

प्रो. रामदरश राय

साहित्य-सृष्टि के उपजीव्य के रूप में यद्यपि कि पुरासन्दर्भों, मिथकीय प्रसंगों और युगगर्भित आशयों ने ढेर संसाधन उपलब्ध कराये हैं। परन्तु, ग्रामीण परिपार्श्व, देहाती दुनिया और ठेठ देशज आकृति-प्रकृति ने चटक, रंगीन और कथ्यगर्भी सामग्री देकर लोकसाहित्यकारों का हौसला बढ़ाया है। इस संसार में पहुँचकर साहित्यकारों को प्रतीत हुआ है कि संवेदना -सृष्टि की उर्वरभूमि यही है, साहित्य की उर्वशी का बसेरा यही है। आनन्दबोध के साथ कुछ रच जाने, कुछ दे जाने और अनागत के रूपहले स्वप्न दिखा जाने की असली जमीन यही है। लोकभूमि की आहट-धड़कन को पढ़कर, उसे अक्षर की रेखाओं में ढालकर साहित्य के सर्वोत्तम प्रतिपाद्य 'सत्यं शिवं सुरन्दरम्' का आनुष्ठानिक प्रतिपादन यहीं किया जा सकता है। साहित्य की दुनिया में चमक-दमक, ठाट-बाट के साथ आधुनिक जमाने को देखने वाले साहित्यकार आये और ठेठ ग्राम्य ठसक के साथ देहाती दुनिया को गुनने-बुनने वाले लोकलेखक भी। दोनों तरह की दुनिया की नाप-जोख और जाँच-पड़ताल करना इस लेखयात्रा का मकसद नहीं है, परन्तु इतना कहना अभिप्रेत जरूर है कि साहित्य की लोकभूमि से शिष्ट-विशिष्ट कही जाने वाली साहित्यभूमि बहुत जगह बौनी नजर आती है। लोकसंवेदना ने साहित्य के विशाल भूखण्ड को अधिक उर्वर बनाया है। साहित्य-खण्ड का ऊपर-बंजर भी लोकगंध, गिरिवासी, वनवासी, आदिवासी, जलवासी, किसान-मजदूर-लकड़हारे-वनटाँगिये- मछुआरे आदि मानव-संवेदना सर्जकों के आलम्बन-आकर्षण बनते रहे हैं। इनसे जुड़े इतिवृत्त, वृत्तचित्र और काव्यबंध अधिक रिझाऊ, झकझोर और इतिहास-विधायक साबित हुए हैं।

सहज, संवेदनशील और सु-मन साहित्यकार प्रायः इसी दिशा में गये हैं और गये तो यहीं के हो गये। साध-साधना यहीं पूर्ण किया। इस इलाके के गाँव, ताल, कछार, खेत-खलिहान, जंगल-पहाड़, पशु-पक्षी, उत्सव-त्योहार लोकलेखकों को आकृष्ट करते रहे। लोक की अराधना करने वाले मसिजीवी धरती के इस असली स्वरूप को कभी नहीं छोड़ पाये। विवेकी राय ऐसे ही एक शब्द ऋषि हैं, जो आद्यन्त गाँव में रहकर शब्दसाधना करते रहे, ग्रामकथाएँ रचते रहे। उन्हें न गाँव छोड़ पाये और न वे गाँव को। गाँव और विवेकी राय एक-दूसरे के पर्याय हो गये।

ग्रामकथा लेखकों में प्रेमचन्द, फणीश्वनाथ रेणु, नागार्जुन, शिवप्रसाद सिंह, राही मासूम रजा, रामदरश मिश्र, श्रीलाल शुक्ल, रामदेव शुक्ल और विवेकी राय ऐसे नाम हैं, जो गाँवों की हर धड़कन से परिचय कराने में समर्थ हैं। इन रचनाकारों की ग्रामकथा कृतियाँ कथारस के साथ सम्पूर्ण ग्रामीण-समाज, ग्राम-संस्कृति और लोक-सभ्यता से मुकम्मल साक्षात्कार देती हैं। गोदान (प्रेमचन्द), मैला आँचल (रेणु), बलचनमा (नागार्जुन), अलग-अलग वैतरणी (शिवप्रसाद सिंह), आधा गाँव (राही मासूमरजा), पानी के प्राचीर (रामदरश मिश्र), राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल), ग्राम देवता (रामदेव शुक्ल), लोकऋण-सोनामाटी-मंगलभवन-नमामि ग्रामम् (विवेकी राय), जैसी कालजयी ग्राम कृतियाँ हिन्दी-कथाकोष की अक्षयनिधि हैं। कथा साहित्य के इतिहास में ऐसी कृतियाँ स्वतंत्र अध्याय बनती हैं और सदियों तक याद की जाती हैं।

आज की तारीख में समृद्ध और समर्थ लेखन की वजह से विवेकी राय एक चर्चित साहित्यकार श्रेणी में आते हैं। उनका अक्षर-सृजन अनवरत, अनथक, अविरल और अगाध बना हुआ है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ हुआ उनका लेखन यज्ञ अद्यतन जारी है। हिन्दी के साधक और भोजपुरी के आराधक विवेकी बाबू की सधी लेखनी हिन्दी-भोजपुरी में समान गति से सरकती है। कृति-क्षेत्र में शतक साध लेने वाले विवेकी राय शताधिक बसन्त की ओर आश्वस्त हैं। रचना और आयु का दोहरा शतक भाग्यशाली लेखकों को प्राप्त होता है। विवेकी-साहित्य के सर्वेक्षण से परिज्ञात होता है कि रंगमंच को छोड़कर लोकरंग का कोई कोना ऐसा नहीं, जहाँ उन्होंने अपनी दखल न दर्ज करायी हो। अर्गला, रजनी गंधा, दीक्षा जैसे दर्जनभर काव्यग्रंथ,

गूंगा जहाज, नयी कोपल, बेटे की बिक्री, सर्कस जैसे डेढ़ दर्जन कहानी-संग्रह, लोकऋण, पुरुषपुराण, सोनामाटी, समर शेष है, मंगलभवन, नमामि ग्रामम् जैसे दशाधिक उपन्यास, फिर बैतलवा उन पर, गाँवई गंध गुलाब, मनबोध मास्टर की डायरी, जगत तपोवन सो कियो, नया गाँवनामा, गुरु गृह गयउ पढ़न रघुराई और चली फगुनहट बौर आम आदि ढाई दर्जन ललित निबंध व्यंग्य-रेखाचित्र, जनता का पोखरा, राम झरोखा बड़ठिके, अमंगलहारी, ओझरती, गंगा जमुना सरस्वती के कहल चुनरी रंगा ल जैसा दर्जनाधिक भोजपुरी साहित्य और संस्मरण, डायरी, शोध, समीक्षा आलोचना, साक्षात्कार आदि विविधायन उनकी बहुमुखी साहित्य सर्जना के साक्ष्य देते हैं। समय की शिला पर मुद्रित प्रायः सभी हिन्दी-पत्रों और अक्षर-शिखर पर विद्यमान प्रायः सभी हिन्दी पत्रिकाओं में विवेकी राय छपते रहे हैं। समीक्षाएँ और ललित प्रसंग तो शताधिक सृष्टि बनकर स्तम्भकार और टिप्पणीकार व्यक्तित्व की उनकी बहुलशः लोकरेखाएँ हैं। दो दर्जन से अधिक साहित्यिक प्रतिष्ठा-सम्मान और तमाम साहित्यिक संस्थाओं और गतिविधियों के संचालक शुभैषी। यह तो अचरज भरा और कौतूहलवर्द्धक दृष्टान्त कि देह में विद्यमान विवेकीजी के साहित्यिक प्रदेय पर प्रामाणिक रूप से 85 शोधकार्य सम्पन्न हो चुके हैं, कई-एक अनुसंधान अभी और हो रहे हैं। इसीलिए कहने से रोक पाना मुशकिल हो रहा है कि विवेकी राय युगसाहित्य और कथाविधा के मिथकपुरुष हैं, भारतीय मनीषा के ऋषिपुरुष। गाँवई-गंध-गुलाब के प्रतीक पुरुष।

दरअसल, कथासाहित्य में मिलने वाले गाँव अलग-अलग हैं, परंतु संवेदना भूमि में सभी एक साथ हैं। भाषा और भूषा में भले ही गाँवों की तस्वीर अलग-अलग दिखे, परंतु भावभूमि, मनोभूमि और कथ्यभूमि में सभी एक से प्रतीत होते हैं। दिलचस्प सिर्फ यह होता है कि ग्रामकथाकार ने अपने गाँव और उसके चरित्र को किस नजरिये से पढ़ा है। सिर्फ देखा है तो क्या देखा? निकट से पढ़ा है, उनके बीच उठा-बैठा-सहा-सीखा है, तो सब कुछ ठीक-ठीक से कह लेगा। वस्तुतः ग्रामकथाओं को रचने वाले साहित्यकार यदि गाँवों के सतत सम्पर्क में हैं तो उनका कथालेखन स्वाभाविक और पैना होगा और यदि फिल्मों में गाँव की तस्वीर देखकर अथवा कभी-कभार नाव पर चढ़कर, गाँव में उतरकर फोटोग्राफ के जरिये गाँव देखा जायेगा, किस्सा-कहानी

गढ़ी जायेगी तो वह अस्वाभाविक और दुर्बल होगा। शीतल कमरे में बैठकर गाँव के शब्द बीज उगाये नहीं जा सकते हैं। बात सिर्फ यह है कि यथार्थ को भोगे बिना, गाँव के अदहन में उबले बिना, सब कुछ बेस्वाद रहेगा। ग्राम कथाकारों की लम्बी फेहरिस्त है, परन्तु ग्राम मनोविज्ञान, ग्राम समाज भाषिकी से वस्तुनिष्ठ साक्षात्कार लिये बिना, घाम-बतास, शीत-पाला, बादल-बरसात, लू-बवंडर झेले बिना गाँव की कहानी बनेगी कैसे? गाँव के ओसार और पाही-खेत में बैठकर कड़कते बादल और चमकती बिजली को आनंदभाव से देखने वाला देहात-जीवन के सुंदर शब्द चित्र बना सकेगा। वे क्या-उतारेंगे जो पुलिस के सायरन और छूटते-दगते पटाखे से अपने घर के दरवाजे और खिड़कियाँ बंद कर लेते हैं। लिखेंगे वही जो सियार का हुआ-हुआ, मेढक का टर्-टर् और बछड़े को दूध पिलाने के लिए रँभाती गायों के 'म्माँ' रव को सुन-सह लेने की ललक पालेंगे। रम्य ग्रामकथा वे कभी न लिख सकेंगे जो ट्रकों-बसों की घर-घर और रेल की सीटी के स्थायी श्रोता हैं। वे यदि लिखेंगे भी तो अस्वाभाविक स्वर-ग्राम लिपिबद्ध करेंगे। ध्वनि यह कि लोकजीवन को, ग्रामजीवन को शिद्दत से जीने वाले कलम के प्रजापति गाँव-देहात की जो भी तस्वीर गढ़ेंगे, वह बोलती प्रतिमा होगी, निशान छोड़ती ग्रामवाहिनी होगी, तथ्य और सत्य को उगलती हुई रोचक कथा होगी। असह्य पीड़ा का प्रामाणिक बयान पैर-फटी-विवाई वाला आदमी ही कर सकता है, किताबी पाठ से इस दर्द का इकबालिया बयान सम्भव नहीं है। चाहे प्रेमचन्द हों, चाहे रेणु, नागार्जुन की बात करें अथवा विवेकी राय की। इन कथाकारों ने गाँव को, वहाँ के किसान-मजदूर को और देहात की सम्पूर्ण संस्कृति को देखा-जिया और पढ़ा है। इसीलिये इन कथाकारों की कथाभित्ति में उकेरे गये चित्र दर्शनीय मात्र न रहकर पठनीय और अर्थवाही होकर उगे हैं।

कथासृष्टि और उसके प्रदेय-प्रक्षेप पर शिखर आलोचक डॉ. नामवर सिंह की एक टिप्पणी प्रसंगवश अर्थवान लगती है। उनकी नजर में 'किसी उपन्यास की व्यापकता इस बात में मानी गयी है कि वह जीवन की छोटी से छोटी समस्या को कितने बड़े परिवेश में और किस स्तर पर प्रस्तुत करता है।' (इतिहास और आलोचना, पृष्ठ-9)। यही बात अपने मिजाज में टिप्पणी के साथ वेदप्रकाश अमिताभ कह जाते हैं- 'यदि रचनाकार अपने परिवेश से तनिक भी कटा हुआ है तो उसकी रचनात्मक ईमानदारी

प्रभावित होगी। गाँव के परिवेश पर लिखने वालों के साथ प्रायः यही त्रासदी रही है कि वे नगर या महानगर में जा बसे हैं और यहीं से ग्रामजीवन को आँकने का प्रयास करते हैं।' (अक्षरबीज की हरियाली, पृष्ठ -38)। एक साक्षात्कार में इस वस्तुसत्य को आँकते हुए स्वयं विवेकी राय ने कहा है- 'लेकिन जो नया गाँव है, उसे शहर में बैठकर नहीं लिखा जा सकता। इसलिये गाँव पर ईमानदारी से लिखने वाले लेखकों ने उसे छोड़ दिया है और जो लोग लिख रहे हैं, वे अपने पुराने संस्कारोंवश शहरों में बैठकर लिख रहे हैं।' (जनसत्ता, 1 जनवरी, 1988)। निष्पक्ष दृढ़ता के साथ आलोचना का स्वर यहाँ तक पहुँचता है- 'गाँव को उसकी सम्पूर्ण स्वाभाविकता में वही लेखक अभिव्यक्त कर सकता है, जो उसे शहरी दूरबीन से नहीं देखता हो, बल्कि गाँवों में रहकर नंगी-खुली आँखों से देख और भोग सका हो।' (सुवास कुमार, आलोचना, पृष्ठ- 26 अक्टूबर-दिसम्बर 1988)।

भारतीय गाँव और गाँव के लोगों के प्रति विवेकी राय की आत्मीय और संवेदनशीलता कितनी गहरी व निर्मल है, इस बात का अंदाज उनके 'नमामि ग्रामम्' उपन्यास की भूमिका के कुछ वाक्यखण्डों से लगाया जा सकता है। उन्होंने कहा है- 'किसानों का देश मेरा देश है। बाहर वाला और भीतर वाला भी। जीवन से जुड़ा और सृजन से सम्पृक्त। यह मेरा प्रणम्य देवता है। इसकी प्रमुख संज्ञा 'गाँव' मेरे भीतर एक सजीव भावात्मक सत्ता बनकर प्रतिष्ठित है। इसका भोलापन, हँसता-खेलता और चित्ताकर्षक चेहरा एक युग से हमें अनुप्राणित करता आ रहा है। अत्यधिक आत्मीयता और अभिन्नता होने के कारण गाँव मेरे सामने संदेह रूप में प्रकट होता है और पीड़ा प्रकट करता है। उसका नकारात्मक दृष्टिकोण, उसकी उलझने और उसके क्षोभ भरे तर्क और वक्तव्य मुझे चौंकाने वाले होते हैं। गाँव के आदेश से ही उसके वक्तव्य लिखकर मैं अपने पाठकों तक पहुँचाना चाहता हूँ। (नमामि ग्रामम्, पृष्ठ-5, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997 ई.)। विवेकी राय के पास गाँव के मनोविज्ञान को समझने-समझाने की सधी कथाभाषा है। समय और परिवेश के ग्रामसरोवर में उतरने और तैरने की कथा कला है। 'लोकऋण' की एक संवाद-भाषा से स्वतः प्रमाण मिल जाता है- 'तब तो गाँव सोया था और उसने प्राणों की बाजी लगाकर उसे जगाया था। अब गल्ला बेच रहा है, ब्लैक भी कर रहा है। गया सब नेत-धरम। क्या सचमुच धरम मर

गया?’ अंग्रेजों की पलटन से न डरने वाला धरम आज अपने छोटे भाई ग्राम-सभापति की डाँट से सूख जाता है। क्या सममुच धरम मर गया? (लोककृष्ण, पृष्ठ-9 विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1977)।

विवेकी राय की साहित्य यात्रा तमाम पगडण्डियों से गुजरती हुई, जीवन-जगत् के तमाम पड़ावों को लाँघती हुई, गाँव-देश और बहुरूपिया समाज के बिम्ब-प्रतिबिम्ब निहारती हुई, जटिल और अकथ आत्मजीवन के ऊबड़-खाबड़ फलाँगती हुई कभी श्रीहीन नहीं हुई। युगसमाज को समझने और तरासने की उनकी अदम्य लेखन-जिजीविषा ने उन्हें साहस, सम्बल और धीरज प्रदान किया। किसान से गृहस्थ, गृहस्थ से शिक्षक, शिक्षक से पत्रकार, पत्रकार से साहित्यकार और साहित्यकार से राष्ट्रीय चेतना तक का उनका निष्ठाबद्ध सफर एक सामासिक स्वर लेकर शब्द से शब्द तक का राही बना रहा। उनका साहित्यकार व्यक्तित्व घर-गृहस्थी के मकड़जाल में आबद्ध होकर भी कभी घायल नहीं हुआ। अदृश्य ने उनकी अहैतुकी सहायता की, वे अपनी भाग्यरेखा के स्वयं निर्माता बने।

विवेकी राय की सकल महनीय लब्धियों को उनके आशंसक अनिल जी ‘आंजनेय’ की शब्दावली में टांकते हुए एक सम्पूर्ण साहित्यकार की अक्षर सृष्टि और व्यक्तित्व-विभा का सारांश देना मोददायक लग रहा है- ‘तथ्य यह है कि लेखक (विवेकी राय) की सम्पूर्ण उपलब्धियाँ उसके रचनाबल पर आधारित हैं। लेखक स्वभावतः सभा-भीरु और यात्रा-भीरु है। प्रचार-निरपेक्ष, युक्ति-उपाय से उदासीन और चाटुकारिता के व्यापार-व्यवहार से सर्वथा अनभिज्ञ धर्म-भीरु। यह लेखक केवल अपनी साधना के फल का विश्वासी है। उसका प्राप्य यदि उसे नहीं मिला तो इसे नियतिचक्र अथवा अदृष्ट और अज्ञात का प्रबंध मानकर सहजभाव से स्वीकार करते हुए इस विधान पर अपनी विशिष्ट शैली में सहसा एक विदग्ध टिप्पणी कसता है- ‘यह आसमानी इंतजाम है’। अपनी इस टिप्पणी पर वह स्वयं एक

ठहाका लगाता है और फिर यथावत शांत, स्वस्थ, निरुत्सुक, निरुद्वेग, निरुपद्रव और निर्द्वन्द्व की सहज स्थिति में पहुँच जाता है। आशा-आकाँक्षा के कल्मष को झटककर तत्काल निर्मल और स्वस्थ हो जाने का अद्भुत सिद्धियोग डॉ. विवेकी राय को सहज सिद्ध है। इसी से वे प्रमाद-रहित होकर सारस्वत-साधना का अपना विद्याव्रत एकनिष्ठ भाव से निभाते जा रहे हैं।’ (डॉ. विवेकी राय, जीवन और उपलब्धियाँ, परिचय, पृष्ठ-3, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2008)।

हिन्दी के स्थापित लेखकों-विचारकों की दृष्टि में विवेकी राय एक बेबाक साहित्यकार हैं। डॉ. रामदरश मिश्र साहब को ‘किसान लेखक’ के रूप में चिह्नित करते हैं, तो भोजपुरी के शोधलोचक विद्वान् कृष्णदेव उपाध्याय निबंधकार विवेकी राय को भोजपुरी का बालकृष्ण भट्ट मानते हैं। पं. विद्यानिवास मिश्र जी विवेकी राय के काव्यविवेक पर मुग्ध होकर कह जाते हैं कि कविता तो ब्याजमात्र है, कविता से अधिक महनीय है कवि का अद्वय व्यक्तित्व। विष्णु प्रभाकरजी विवेकी राय की कहानियों की भाषा और मुहावरों में माटी की गंध और मानव-जीवन की धड़कन खोज लेते हैं तो आचार्य रामचन्द्र तिवारी विवेकी राय की सर्जनशीलता के केन्द्र में धरती के प्रति उनकी अर्पणशीलता का रेखांकन कर जाते हैं। वेदप्रकाश अमिताभ ने विवेकी राय की कथाभाषा को ‘ग्रामगंधी-भाषा’ की संज्ञा दी है तो स्वयं विवेकी राय ने अपने को ‘ग्राम-पुत्र’ कहा है।

कुल का सारांश यह कि ग्राम-पुत्र विवेकी राय की ग्रामकथा हिन्दी कथासाहित्य का एक प्रदीर्घ पड़ाव है, कदाचित् पहाड़ी ग्रामकथा ‘अरण्यबाला’ (ब्रजनंदन सहाय), ‘रामलाल’ (मन्नन द्विवेदी), ‘देहाती दुनिया’ (शिवपूजन सहाय), ‘बिल्लेसुर बकरिया’ (निराला) की ग्रामकथा को अग्रगामी बनाने वाला। ‘रतिनाथ की चाची’ और ‘बाबा बटेसरनाथ’ की आंचलिक कथायात्रा को सखाभाव से आगे बढ़ाने वाला भी। एक तरह से कथा सम्राट मुंशी प्रेमचन्द की विरासत का नया कथा प्रस्थान और नया कथापाठ।

लोकनाट्य और भिखारी ठाकुर

डॉ. अंगदकुमार सिंह

लोक रंगकर्मी 'भिखारी ठाकुर' अपनी विशिष्ट लोक अभिनय शैली के कारण नामधारी एक संज्ञा न होकर मिथ बन चुके हैं। खास बात यह कि वे अपने जीवन काल में ही दर्शकों और श्रोताओं के लिए मिथक बन चुके थे। 'बिदेसिया' नाटक से अपने नाट्यकर्म का आगाज करने वाले 'भिखारी ठाकुर' के बारे में यह किसे पता था कि एक साधारण हज्जाम (नाई) के घर में पैदा होने वाला बालक आगे चलकर समाज को अपने नाटकों के माध्यम से नयी दिशा देगा तथा 'रायबहादुर पद' एवं 'पद्मश्री सम्मान' तक की यात्रा तय करेगा। 'भिखारी ठाकुर' का जन्म बिहार प्रांत के 'सारण' जिलान्तर्गत दियरा क्षेत्र में बसे 'कुतुबपुर' गाँव में हुआ था। इनका बचपन खेलकूद और चरवाही में बीता तथा बड़े होने पर जातिगत पेशे (हजामत करना, शांदा ब्याह में निमंत्रण बाँटना) में गये। बचपन में विवाह हो जाने के कारण आर्थिक स्थिति डाँवाडोल हो गयी, जिसके कारण आपको रोजी-रोटी के लिए कलकत्ता जाना पड़ा। प्रवास के दौरान ही मेदिनीपुर और जगन्नाथपुरी जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तथा वहाँ पर रामलीला, जात्रा आदि देखने का मौका मिला। इस यात्रा ने आपके जीवन को झकझोर कर कुछ नया करने के लिए प्रेरणा देने का कार्य किया, जिसके परिणाम स्वरूप आप कुछ नया करने के लिए सोचने लगे। उम्र के मध्य में आप कलकत्ता से वापस अपने गाँव लौट आये तथा कलात्मक रूझान वाले लोगों को खोजकर एक नाच-गिरोह तैयार किया। इसी को अपने रोजगार का माध्यम भी बना लिया। इसी समय आपकी प्रतिभा जो प्रसुप्त हो गयी थी, अनुकूल अवसर पाकर प्रस्फुटित होने लगी। आपने विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर अपनी लेखनी की धार को बखूबी चलायी तथा उससे अनेक नाटकों का सृजन हुआ। यथा- बिदेसिया, बेटी बेचता, गबर घिचोर, गंगा स्नान, बूढ़शाला का बयान, पुत्र-

वध नाटक, ननद भौजाई, घी चोर, जयहिन्द, देवर-वध, पति वध, भिखारी, जयहिन्द आदि।

‘भिखारी ठाकुर’ का ‘बिदेसिया’, नाटक इतना प्रसिद्ध हुआ कि लोग इसको देखने के लिए 15-20 मील पैदल चलकर आते थे। इस पर ‘बिदेसिया’ नाम की फिल्म भी बनी थी, जो हिट भी हुई। इसकी प्रसिद्धि का आलम यह था कि अनेक लोगों ने अपने नाटक –मण्डली का नाम भी बिदेसिया रख लिया। इस नाटक की कथा संक्षेप में इस प्रकार है- नाटक का आरम्भ ‘वन्दना’ से होता है। इसके बाद पति-पत्नी मंच पर आते हैं। पति आगे बतलाता है कि उसका एक मित्र रंगून से कमाकर लौटा है, उसकी शान-शौकत देखकर मेरी भी इच्छा है कि रंगून कमाने जाऊँ। पत्नी उसको जाने से इंकार कर देती है, परन्तु एक दिन दोस्त से मिलने के बहाने वह भाग जाता है। पत्नी रोती है तो एक बटोही आता है और वह बतलाता है कि मैं पूरब देश जा रहा हूँ। इस बात को सुनकर पत्नी अपना मर्म खोल देती है और बताती है कि उसका पति भी वहीं गया है। ‘बटोही’ सब हालचाल पूछकर चल देता है। यह सुनकर बिदेसी वापस अपने घर आ जाता है और दोनों का सुखद मिलन हो जाता है।

‘भिखारी ठाकुर’ ने ‘बिदेसिया’ नाटक में लोकजीवन से ही अपने सभी उपमानों, उत्प्रेक्षाओं, बिम्बों का चयन किया है। वियोगिनी पत्नी बटोही से पति की हुलिया का जो वर्णन करती है, वह किसी भी महाकवि के ‘नख-शिख’ वर्णन से कमतर नहीं हैं। वह कहती है-

*हमरा बलमुजी के बड़ी-बड़ी अंखियाँ से,
चोखे-चोखे बाड़े नयनां कोरे रे बटोहिया।*

‘बटोही’ रंगून पहुँचकर विदेशी के मिलने पर उसकी विवाहिता एवं वियोगिनी पत्नी के ‘नख-शिख’ का वर्णन करके कहता है कि उसकी छहरी काया है, केश नागिन की तरह, आँख आम के फाँक की तरह तथा गाल गुलनार की तरह है।

*तोरी धनी बाड़ी रामा अँगवा के पतरी से,
× × × ×
गलवा सोहेला गुलेनार रे बटोहिया।*

पति के वियोग में रूपवती नायिका वन के कोयल की तरह से हो गयी है तथा चारों ओर कुहुकती फिर रही है-‘तोरा धनी भइली रामा वन के कोइलिया से।’ ग्रामीण नायिका में लज्जा और संकोच कूट-कूट कर भरा रहता है, एतदर्थ वह अपने बारे में किसी से कुछ भी कुछ नहीं कह सकती है। फिर भी वह कहती है कि जब दिल का दर्द (क्लेश) दूर करने वाला प्रियतम स्वयं दूर चला गया है, तो यह जवानी तो स्वाभाविक तौर पर बैरन बन ही जायेगी-

*चढ़ली जवनियाँ बैरन भैली हमरी से,
के मोरा हरिहें क्लेश रे बिदेसिया।*

प्रियतम का इंतजार करते दिन पर दिन बीतता चला जा रहा है और रातें गुजरती चली जा रही हैं, फिर भी पति नहीं आया। बसंत का आगमन हो गया है तथा शरीर रूपी आम में बौर एवं टिकोरा लगना प्रारंभ हो गया है। दिन बीतने के साथ यह पोला हो जायेगा और एक दिन ऐसा आयेगा कि यह डाल-पात के साथ गिर जायेगा-

*एक दिन बहि जइहें जुल्मी बेयरिया से,
डाल-पात जइहें भहराई रे बटोहिया।।*

‘बिदेसिया’ की नायिका अंत में कहती है कि हे निर्मोही पति! मैं तुम्हारे ही कारण अब भभूति लगाकर धूनि रमाऊँगी। तभी तो बटोही रंगून जाकर विदेशी से कहता है कि ऐसी सती साध्वी वियोगिनी स्त्री की सुधि भूल जाने वाले ये विदेशी तुम्हें धिक्कार है-

*अइसन तिरिया के सुधि बिसरवले से,
तोहरे के हवे धिक्कार रे बिदेसिया।*

‘भिखारी ठाकुर’ ने बेटे वियोग नाटक लिखकर बेटे बिक्री की प्रथा को समाप्त करने का काम किया। ‘बेटे वियोग’ में ‘भिखारी ठाकुर’ ने ऐसा चित्र खींचा है कि जिसे देखकर पत्थर-हृदय भी पिघल जाता है-

*रूपया गिनाई निहल, पगहा धराई दिहल।
चेरिया से छेरिया बनवल हो बाबूजी।।*

सनातन धर्म में बेटी को गाय के समान माना जाता था। उसे जिस भी दूल्हे रूपी खूँटे से बाँधा जाता था, वह उफ तक नहीं करती थी। इस नाटक में बड़े वर से लड़की की शादी पैसा लेकर पिता कर देता है। शादी के बाद उसका पति बीमार पड़ जाता है। पिता जब बेटी के घर जाता है तो वह अपनी स्थिति का बयान बड़ी संजीदगी से करती हुई कहती है-

*बूढ़ वर से कइल बियाह, बेटी के ना रखल खेयाल,
पुरुष क कवन कसूर हो बाबूजी।
कफ से भरल बाड़ी, रात दिन होखे ला जाड़ी,
हिलिया काढ़त दिनवा बीतेला हो बाबूजी।।*

यह स्थिति किसी एक स्त्री की न होकर बल्कि बूढ़े व्यक्ति से ब्याही गयी उन सभी स्त्रियों की होती है। आम आदमी जो उनका नाटक देखने के लिए नहीं जा पाता था, उनको भी इस नाटक के कथानक ने परोक्ष रूप से बेटी बेचने की प्रथा से घृणा उत्पन्न कर दिया।

‘विधवा’ की समस्या पर भी ‘भिखारी ठाकुर’ ने अपनी लेखनी चलायी। शास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार स्त्री के पूर्व जन्म के पाप के कारण उसका पति मर जाता है। वह विधवा हो जाती है। पहले विधवा होने पर स्त्री के ऊपर बड़े जुल्म ढाये जाते थे, लोग उसकी परछाँई तक अपने ऊपर नहीं पड़ने देना चाहते थे। मुँह देखने की बात तो दूर की थी। वह उपेक्षिता की तरह घर के कोने में पड़ी रहती थी और मैली- कुचेली सफेद साड़ी पहनती, एक बार उसे खाना दिया जाता था। पहले की व्यवस्था में पति की मृत्यु के बाद सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं होता था, उसकी कहीं भी इज्जत नहीं होती थी, न ससुराल में और न मायके में। उसी सच को ‘भिखारी ठाकुर’ ने अपने नाटक ‘विधवा-विलाप’ में बहुत ही करीने से उकेरा है, उसमें विधवा की दुर्दशा उसका भतीजा करता है।

‘भिखारी ठाकुर’ ने सामाजिक कुरीति ‘नशापान’ की समस्या को अपने नाटक का आधार बनाया तथा ‘कलयुगी प्रेम’ का प्रणयन किया। इसमें यह दिखाया गया है कि जब व्यक्ति को नशा करने की लत लग जाती है तो वह अपना घर, कर्तव्य, लोक-लाज सब कुछ भूल जाता है।

‘गबर घिचोर’ का आधुनिक समय में सबसे अधिक मंचित होने वाला नाटक है। इसमें नाटककार ने सारे नियमों और परम्पराओं को तोड़ते हुए तथा मानवीय संवेदनाओं को कुरेदते हुए दिखाया है कि संतान पर सबसे अधिक अधिकार माँ का होता है। पुरुष प्रधान समाज में ऐसा नाटक लिखना नदी की धारा मोड़ने जैसा काम था। ‘भिखारी ठाकुर’ के अधिकांश नाटकों की विषयभूमि नारी समस्या ही रही है। नारी में मनोविज्ञान के ‘भिखारी’ पारखी थे, एतदर्थ वे नारी-समस्या को अपने नाटकों में सहजता से समाहित कर लेते थे।

‘भिखारी ठाकुर’ ने एक तरफ नाटकों के माध्यम से समाज में प्रचलित तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक बुराईयों पर कबीर की भाँति बेबाकी में कुठाराघात कर सुधारा। तो दूसरी तरफ द्वितीय विश्वयुद्ध में अपनी नाट्यमण्डली से प्रस्तुत नाटकों में मिले 50 हजार रुपये अंग्रेज सरकार के ‘युद्ध फण्ड’ में दान देने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनके इस महान कार्य से प्रभावित होकर अंग्रेजी सरकार ने ‘राय बहादुर’ के खिताब से नवाजा। वहीं स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने इनकी लोकसाधना और अवदान की सराहना करते हुए ‘पद्मश्री’ से सम्मानित किया।

समग्रतः कह सकते हैं कि संस्कृत नाट्य के ‘कालिदास’ अंग्रेजी नाट्य के ‘शेक्सपीयर’ और हिन्दी नाट्य के ‘भारतेन्दु’ के समान ‘भिखारी ठाकुर’ भी भोजपुरी लोकनाट्य के मिथक पुरुष थे। ‘भिखारी ठाकुर’ ने ‘बिदेसिया’ को बनाया और ‘बिदेसिया’ ने भिखारी ठाकुर को।

सृजनधर्मी- श्री बाबूलाल द्विवेदी

डॉ. राकेश नारायण द्विवेदी

भौतिकवादी संस्कृति की चकाचौंध के बीच साहित्य में रमना जितनी बड़ी साधना है, उससे बड़ी साधना लोक-भाषा के साहित्य की साधना करना है, क्योंकि इसमें व्यापक ख्याति मिलना अत्यंत दुर्लभ होता है। साहित्यकार को एक छोटे से दायरे में सीमित रह जाने का क्षोभ रहता है। अति-सीमित संसाधनों में रहकर इसका प्रकाशन विरल होता है, क्योंकि क्षेत्रीय भाषा में गंभीर पाठकों का अभाव जो होता है। बुंदेली लोक भाषा में जो साहित्य रचा जा रहा है, उसके प्रोत्साहन और साहित्यकारों का उत्साहवर्धन करने वाले व्यक्ति और संस्थाएँ इस अंचल में कार्य कर रही हैं। बुंदेलखंड का पिछड़ापन देश भर में सर्वत्र जाना जाता है। मीडिया के माध्यम से इस अंचल के पिछड़ेपन की विभीषिका के चर्चे देश के कोने-कोने तक हो चुके हैं। इस परिप्रेक्ष्य में निरासक्त भाव से यहाँ का साहित्यकार अपनी साहित्य-साधना में तल्लीन है। उदारीकरण के दौर में जहाँ पाठ और पाठक का संबंध दरक रहा है। पाठक अब उपभोक्ता हो गया है, जिसे तरह-तरह के भोगवादी व्यंजन लुभाए जा रहे हैं। पाठ भी अब उत्तर आधुनिकता के दौर से निकलकर प्रवृत्तिगत अस्पष्टता के कारण दी जा रही संज्ञा 'उत्तरोत्तर आधुनिकता' तक आ पहुँचा है। 'पाठ' नाम की सत्ता को छिन्न-भिन्न करके छोड़ दिया गया है।

राजनीतिक रूप से देश के दो बड़े प्रांतों में विभक्त, किंतु सांस्कृतिक इकाई के रूप में चिर-परिचित बुंदेलखंड की संस्कृति और समाज पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव अभी भी उतना नहीं पड़ सका है, जितना अन्य बोली-क्षेत्रों के समाजों पर। कदाचित् विकास के

आधुनिक पैमानों पर खरा न उतरने के कारण ही इस क्षेत्र को पिछड़ा माना जाता है, अन्यथा बुंदेलखंड में पंजाब का-सा शौर्य, राजस्थान का-सा पुरातत्व और महाराष्ट्र की-सी कला-संस्कृति की समृद्धि दिखाई देती है। इस समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के साहित्यिक पक्ष को अपने मूल रूप में संरक्षित और जीवंत करने का कार्य यहाँ के लोक अध्येता बिना प्रलोभन कर रहे हैं, जिनमें से एक बाबूलाल द्विवेदी हैं। लोक अध्येता होने की बुनियादी शर्त है कि वह लोक में रमण करे, बिना इसके उसका लोक अध्ययन वायवी और एकांगी होगा, उसमें प्रामाणिकता और अनुभूति की सघनता नहीं होगी। लोक का मूल स्वरूप आज भी गाँव में ही देखा जा सकता है और एक जुलाई छियालीस को जन्में श्री द्विवेदी शहरों में निवसित अपने पुत्र-पुत्रियों और उनके परिवारों के साथ न रहकर ललितपुर जनपद के लघु ग्राम छिल्ला (बानपुर) में रहकर ही साहित्य-साधना में लीन हैं। शायद ऐसे लोक अध्येताओं के लिए आधारभूत सामग्री के स्रोत आज भी ये गाँव ही हैं। श्री द्विवेदी साहित्य के साथ-साथ कर्मकांड, दर्शन-आध्यात्म, पुराण-उपनिषद और आयुर्वेद चिकित्सा के भी मर्मज्ञ हैं। आपकी मनीषा नाना पुराण, निगमागम और स्वांतः सुखाय की तुलसी परंपरा की सतत प्रवाही है। आयुर्वेद से संबंधित आलेख धन्वंतरि इत्यादि पत्रिकाओं में तो बुंदेली और हिंदी भाषा के आलेख मनन, चिंतामणि, तुलसी साहित्य-साधना, सुधानिधि, कल्याण और उसके विशेषांकों में प्रकाशित हुए हैं। क्योंकि आपका प्रमुख कर्मक्षेत्र शुद्ध, सात्विक और संतोषी स्वभाव का पौरोहित्य है, इसलिए संस्कृत भाषा का संस्कार स्वाभाविक रूप में आपकी भाषा-शैली में परिलक्षित होता है। उच्च शिक्षा की विभिन्न उपाधियों से आप वंचित रहे, पर स्वाध्याय और सत्संग से ज्ञान, वक्तृता, शोध और अनुभूतियों की जिन ऊँचाइयों को आपने उपलब्ध किया, उसे देखकर अच्छे पारखी और विद्वान आपकी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का लोहा मानते हैं।

यों, तो हर पुत्र को अपने पिता पर गर्व होता है या होना चाहिए, यह स्वाभाविक है, किंतु मैं अपने को विशेष सौभाग्यशाली मानता हूँ, क्योंकि शिक्षा उपाधि संपन्न होने के बावजूद अद्यावधि मैं सर्वदा आपके दिए मार्गदर्शन से लाभान्वित होता रहता हूँ। संस्कृत और उर्दू भाषा का जो तनिक संस्कार और हिंदी का

किंचित् परिष्कार मेरे अंदर मौजूद है, उसमें सर्वप्रमुख योगदान आपका ही है। आपके बुंदेली साहित्य, इतिहास एवं संस्कृति से संबंधित विविध लोक विषयों पर लिखे गए आलेख और कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, अभिनंदन ग्रंथों में और आदिवासी लोककला अकादमी भोपाल से प्रकाशित हुए हैं। कविताएँ और वार्ताएँ दूरदर्शन केन्द्र भोपाल और आकाशवाणी छतरपुर से प्रसारित हुई हैं। पराशर संहिता का संस्कृत से हिंदी में किया गया आपका अनुवाद हिंदी में अप्राप्त साहित्य को उपलब्ध कराने की दृष्टि से स्तुत्य है। यह प्रकाशित भी हो चुका है।

गीत गोविंद का बुंदेली पद्यानुवाद का प्रकाशनाधीन कार्य अभी हाल में ही आपने संपन्न किया है। बुंदेली में गीत गोविंद अभी तक आया नहीं था, जिसकी लहरी में विद्यापति, सूरदास और अष्टछाप के मूर्धन्य साहित्यकारों का अभ्युदय हुआ। हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग माने गए भक्तिकाल का एक बड़ा हिस्सा गीतगोविंद की भावभूमि पर ही अवलंबित है। गीत गोविंद में श्रृंगार और भक्ति का जो मणिकांचन संयोग हुआ है, उसे किसी अन्य बोली या भाषा में उतारना कवि के लिए अत्यंत दुष्कर है। भक्ति के विविध प्रकार हैं। भक्ति श्रृंगार का ही अन्य रूप है और इसीलिए गीतगोविंद मुख्य रूप से श्रृंगारी रचना है। इसमें श्रृंगार रस के जिन संचारी भावों का वर्णन हुआ है, उसे किसी व्यक्ति द्वारा अभिव्यक्त करना भी लोकरीति के अनुकूल नहीं समझा जाता। गीत गोविंद के कवि जयदेव ने सैकड़ों-हजारों वर्ष पूर्व अपने इष्ट राधा-कृष्ण के रास-रूप के अंग-प्रत्यंग, भाव-अनुभाव को जो वाणी दी, उसे आज का समाज प्रचलित लोकरीति के कारण व्यक्त नहीं करता। अनुवादक ने इस लोकरीति का निर्वाह अपने उपास्य-उपासक भाव में रहते हुए मर्यादापूर्ण शब्दों में व्यक्त करते हुए किया है। जहाँ यदि रचना के मूल भाव को संरक्षित करने की विवशता के चलते कहीं शब्दों में खुलापन आया भी है तो उसमें उपास्य-उपासक भाव की प्रतिष्ठा पूर्णरूपेण सुरक्षित बनी हुई है। इसका एक पद यहाँ उल्लिखित करना अनुपयुक्त न होगा-

मंजरियन सें कड़त बायरें जब रस के लोभी भौरा।
हलत-डुलत कँप जात छियत में आमन कौ झौरा-झौरा।।
मौर देख कोहलिया कूकें मीठे सुर बौरा बौरा।
मिल नई पा ए मिलबौ चा ए आमन के घौरा-घौरा।।

*मिलबे को सुख सोस-सोस दिन रात 'मधुप' मन आस भरें।
लगो बसंत 'मधुप' सखियन सँग नच ए किसन बिहार करें।।*

यह पद बुंदेलखंड के गाँवों की संस्कृति को कुछ चुने हुए रूपों के साथ तो प्रस्तुत करते ही है, बुंदेली बोली के माधुर्य और अप्रचलित शब्दों का सुमधुर पाठ भी हमारे सम्मुख रखते हैं। भारत प्रमुखतः गाँवों का देश है, अतः यहाँ के गाँवों की समृद्धि होने पर ही देश की खुशहाली संभव है। बोली का मूल प्रयोग गाँवों में हुआ है। भाषा के स्तर पर जो बोली जितनी अधिक संपन्न है और उसमें जितना अधिक साहित्य-सृजन हुआ हो, उससे हमारी राष्ट्रीय भाषाएँ उतनी ही समुन्नत होती हैं। यह विदित है कि आधुनिकता के बढ़ते दबाव के बीच बोलियाँ समाप्त हो रही हैं। जिस बोली में व्यक्ति लिखना-पढ़ना बंद कर देते हैं, बोलने के स्तर पर वह बहुत अधिक समय तक जिंदा नहीं रह सकती। बोली का वाचिक रूप उसके लिखित रूप से संरक्षित और सुरक्षित रहता है, अन्यथा वह बोली अनेक दबावों के चलते अप्रचलित हो जाती है। आदिवासियों की भाषाओं के विलुप्तीकरण का यह प्रमुख कारण है। वर्तमान में पठनशीलता का पतन हो गया है। पुस्तक और पत्रिकाओं का मात्रात्मक प्रकाशन तो बढ़ा है, किंतु यह सर्वमान्य है कि गंभीर पाठक अब बहुत थोड़े ही रह गए हैं। आज की भाग-दौड़ भरी जिंदगी में जो आँखों के सामने से क्षणिक रूप में गुजरा, उसी पर दृष्टिपात कर पाठक संतुष्ट हो रहा है। पढ़ने के तौर-तरीके बदल रहे हैं, अब फेसबुक, ट्विटर और अन्य सोशल नेटवर्किंग वेबसाइट भी पढ़ने के प्रभावी और उपलब्ध माध्यम बन गए हैं। इनसे जुड़ा पाठक तकनीकी की सीमाओं और सुविधाओं तथा सूचनाओं के अंबार के चलते थोड़े समय में ही अधिक पा लेने की चाह में है। इसलिए लिखना और अपनी प्रतिक्रिया देना भी अब त्वरित हो गया है, क्योंकि इन माध्यमों पर उसका भी अवसर सुलभ है। क्षण-प्रतिक्षण आ रहीं सूचनाओं के बीच मूल्यों और संवेदनाओं का ठहराव नहीं हो पा रहा है। कुछ लोगों का मानना है कि यह ठीक ही है, जो अच्छा होगा, वही टिकेगा, किंतु वास्तव में कुछ जम नहीं रहा है तो क्या इसका अर्थ है कि कुछ अच्छा नहीं लिखा जा रहा है। बात वास्तव में ऐसी नहीं है, अच्छे को देखने की हमारी आदतें छीन ली गई हैं। हमें उपभोक्ता बना दिया गया है। यह विज्ञापन युग है और विज्ञापन का लक्ष्य है कि उपभोक्ता की जेब से

पैसे निकालना है, चाहे विधि कोई हो। इसीलिए जब विज्ञापन मोहक अंदाज में किसी उत्पाद की ऐसी विशेषता बताता है, जो उसमें है ही नहीं, तो भी उपभोक्ता उसके झाँसे में आ जाता है। कोई क्रीम किस तरह काले को गोरा कर सकती है, इसे विज्ञापन ही संभव बनाता है। इस तरह के विज्ञापन और विज्ञापनवाद से पार जाने की चुनौती संवेदनशील मनुष्य के लिए बनी हुई है। मनुष्य को संवेदनशील बनाने में साहित्य का महती योगदान होता है।

साहित्य का प्रभाव तब पड़े, जब उसमें लेखन और पठन होता रहे, किंतु पठनीयता का बढ़ता अभाव इस दौर का एक अलग संकट है और यह ऐसा संकट है, जो कई तरह की समस्याओं को जन्म देता है। पाठक अब महाकाव्यों और उपन्यासों को भारी भरकम मानता है, रिमोट संस्कृति जो चल पड़ी है। रिमोट के बटन को दबाने के क्रम में दर्शक को जो मिल जाता है, उसी में संतुष्ट होने की विवशता हो गई है। तुरा यह कि टेलीविजन के नियंता और प्रसारक दुहाई देते हैं कि दर्शक को जो पसंद है, वही दिखाया जा रहा है। यह वैसे ही है, जैसे सरकारें कहती हैं कि हमें पाँच साल के लिए जनता ने चुन के भेजा है, अतः हम जो करेंगे, वही जनता के लिए आवश्यक और उत्तम है, जिसके परिणाम में महंगाई और भ्रष्टाचार बढ़ता ही जा रहा है, किंतु इन सबसे अलग, इस संग्रह के मुक्तक पाठक को रमाते हैं, लेकिन रिमोट की तरह इसका आनंद क्षणिक नहीं होता। यह मुक्तक पढ़कर पाठक सोचने को अभिमुख होता है कि हमारी संस्कृति में बहुत कुछ था, जो पूरी तरह संजोने योग्य है। संग्रह सबके लिए बोधगम्य बने, इसके लिए कुछ अपरिचित-से सात सौ चालीस शब्दों का प्रसंगानुसार अर्थ दे दिया गया है, प्रयास यह किया गया है कि इस त्वरा-युग में पाठक को शब्दकोश का सहारा न लेना पड़े।

इस संग्रह के पदों को उनमें वर्णित सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकृत किया गया है, फिर भी पाठक किसी भी मुक्तक को पढ़कर उसके साथ जुड़ा हुआ पाता है। इससे बुंदेलीतर पाठक के मन में बुंदेली बोली और साहित्य के प्रति ही लगाव उत्पन्न नहीं होगा, अपितु उसे अपने अंचल और आंचलिकता के प्रति भी आकर्षण और गरिमा बोध उत्पन्न होगा। इन पदों में बुंदेली लोक गाथाओं, इतिहास, टहूका, लोकदेवता, कहावतों और लोकोक्तियों, दर्शन-रहस्य, अहाने-अटका, किस्सा-कहानियों का

वर्णन-स्मरण हुआ है, जिनके सहारे बुंदेली बर्तन, कृषि संपदा, वाद्य यंत्र, खाद्य पदार्थ, आभूषण इत्यादि की अप्रचलित शब्दावली का लालित्य-दर्शन हो गया है। मनुष्यों की भाँति शब्दों का भी अपना जन्म-स्थान तथा इतिहास होता है। शब्दों की यात्रा देश-विदेश में परस्पर होती रहती है। इस यात्रा में उनका स्वरूप परिवर्तित होना स्वाभाविक है। हिंदी में कितने ही विदेशी शब्दों की स्वीकृति हो गई है, इसी तरह अंग्रेजी में भी हिंदी सहित अन्य भाषाओं के अनेक शब्द मान्य हो चुके हैं। शासन और शासक अपना प्रभाव किसी भाषा पर छोड़ते ही हैं। ऐसे में, कदाचित्; जो भाषा की समझ कम रखते हैं, उनकी तरफ से यह कहा जा सकता है कि बुंदेली या किसी बोली के अप्रचलित शब्दों को आज के पाठक के सामने लाने का क्या तुक है? किंतु अधिकांश विद्वानों की भाँति मेरा मानना है कि हिंदी के पाठकों और श्रोताओं के बीच अपनी बोलियों के शब्दों, उनके बदलते अर्थ, रस, गुण और उसके मूल आशय से संबंधित जितनी जानकारी बढ़ेगी, उतना ही वे जीवन और कला के रस को खींचेंगे। साथ ही हमारी राष्ट्रभाषाएँ संपन्न होती चलेगी। आज की अनर्गल, अटपटी हिंगलिश या किताबी हिंदी के व्यवहार से दैनंदिन कामकाज भले चल जाए, किंतु ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनने के लिए किसी भाषा को परिचित और विपुल शब्द भण्डार जुटाना होगा।

हम जानते हैं कि भारतीय भाषाएँ अपनी-अपनी उपभाषाओं अर्थात् बोलियों के अपरिमित भण्डार और संप्रेषणीयता के कारण रसपूर्ण एवं क्षमता संपन्न हैं, किंतु हमारी त्वरा और आलस्य ने उसे अभी तक पाठकों के सम्मुख पूरी तरह प्रस्तुत करने का काम नहीं किया है। प्राचीन भाषा-शास्त्री शाकटायन जब कहते हैं कि 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' अर्थात् हर शब्द के भीतर उसके जन्म की कहानी छिपी होती है। शब्द का मर्म और इतिहास खोजने के लिए उसका क्रियारूप जानना आवश्यक होता है। अर्थ के सभी स्तरों को समझे बिना क्रियारूप नहीं समझा जा सकता है। शब्दों का क्रियारूप जानने की दृष्टि से बोलियाँ और उनका साहित्य सर्वाधिक स्रोतपूर्ण माध्यम हैं। एक उदाहरण से बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। रोटी चाहे बेलकर कर बनाएँ या हाथ से थप-थप कर, मानक हिंदी में दोनों के लिए 'रोटी बनाना' कहा जाता है, किंतु बुंदेली में हाथ से रोटी बनाने की क्रिया को अलग से 'पै/पड़' कहा जाता है। इस संग्रह के एक पद की पंक्ति है-

'जितै परोसन की बउएँ मिल कै रोटी पै रई।'

समझने में मुश्किल तब और बढ़ जाती है, जब इस प्रकार के शब्द हिंदी और बुंदेली शब्दकोशों में उपलब्ध नहीं होते। यह शब्द संस्कृत चर्पटी (हाथों से थपकाकर आकार पाने वाली) शब्द का ही विकसित रूप है।

स्वाभाविक तौर पर किसी रचना में रचनाकार का आत्मवृत्त झाँकता है। इस संग्रह में भी कवि ने अपने बारे में यत्र-तत्र संकेत किए हैं। पारदर्शी ईमानदारी के साथ अपनी सीमाओं, अपने संदेहों, अपनी व्यथा और अपनी निष्ठा को कवि ने ध्वनित किया है- 'नौनी-बुरइ मांग, मांगबे में जौ मन मैलो भओ' और 'पैलउं पुरखन नै कै दइं फिर 'मधुप' बेइ पछयावं में।'

कवि के वाग्वैदग्ध्य ने वर्णनों की भावुकता और कविताई के बोझ को रचना में फटकने नहीं दिया है-

चैते चुका दियौ उदार को नुंगरौ हमें उठा दो।

मुंस की छाती एक बार जे कै रई बेउ पटा दो।।

संग्रह में हास-परिहास तो है, लेकिन कलात्मक गंभीरता एवं उद्देश्य परकता के कारण उसने फूहड़ता और अश्लीलता का स्पर्श भी नहीं किया है, जो बोलियों पर एक आम-प्रचलित आरोप है। एकाध जगह चट्टू, दारी, छिनरा, छाकड़ जैसी गालियों का प्रसंगानुकूल प्रयोग है। दहेज समस्या, पर्यावरण प्रदूषण आदि की समस्या का रोचक प्रस्तुतीकरण हुआ है। मनुष्य के संघर्षशील जीवन में कैसी-कैसी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ संघटित होती हैं, उनका चित्रण इस संग्रह में पढ़ते ही बनता है। एक बानगी देखिए-

एक ब्याव में न्यौतें गए देखो दोउ समदी लर ए।

मों माँगे कल्दार गिना लए कौंठा तोउ न भर ए।।

मड़वा तरें बाप बिटिया कौ दो-दो अँसुवन रो रओ।

जित्ती हती हैसियत उततौ काड़दायजौ धर दओ।।

लरका वारौ आँखें काड़ें उचकत नाक फुलाव में।

इन पदों को पढ़कर हम यह भी कह सकते हैं कि रचयिता ने सजग प्रहरी की भाँति मनुष्य के हृदय को मानवता के प्रति आस्थावान बनाए रखने में अपना योगदान किया है। रचना की प्रतिध्वनि है कि उदारीकरण के इस दौर में गाँव और शहर का भेद

समाप्त हो रहा है, शहर में शामिल होने या शहरी जैसा होने में गाँव और गाँव वाले धन्यता समझने लगे हैं, लेकिन शहरों की भयावहता को देखकर गाँव में ही देश का भविष्य सुरक्षित नजर आता है। इसे कुछ आलोचक नॉस्टेलजिया मान सकते हैं, पर आखिर इसके सिवा कोई चारा भी तो नहीं दिखता।

‘भइया अपने गाँव में’ में गाँव की विशेषताएं अपने यथार्थ स्वरूप में बिना लाग-लपेट के रखी गई हैं। गाँव में ऐसा भी होता है-

*ऊपर से मौ मीठी बातें मन में रखें मैल खों।
अगल-बगल में पाछें जोतें पैलउं जोतें गैल खों।।*

ग्रामीण अपनी बात को ठेठ अंदाज में कहने के आदी होते हैं। इसीलिए गाँव की बोली और उसके मुहावरे की अपनी पहचान हुआ करती है, बाद के दिनों में गाँवों में आधुनिकता का संक्रमण जिस तरह हुआ, उसका चित्रण भी इस संग्रह में दृष्टव्य है। यही नहीं दबे-कुचले वर्ग द्वारा विद्रोह के स्वर भी स्पष्ट रूप से इन मुक्तकों में दिखे हैं, जो रचयिता के युग-बोध का परिचायक है।

गाँव में लोक बसता है। लोकमानस चीजों को समग्रता से देखता है। वह किसी की परवाह नहीं करता, उसमें बड़े से बड़े सम्राटों को सिखाने की क्षमता होती है। लोक प्रकृति और जीवन से निरंतर जुड़ा रहता है, वह अनुभव से सीखता है। लोक द्वारा रचित साहित्य ज्ञान की वाचिक परंपरा है। लोक में श्रद्धाभाव का साक्षात्कार होता है। जो विद्वान लोक को अनगढ़, अशिष्ट, असभ्य, अर्द्धसभ्य, जंगली, आदिवासी, मूढ़, अपढ़, गंवार या अज्ञानी मानते हैं, वे वास्तविकता से दूर हैं। यह स्थापित है कि सभ्यता का मूल स्रोत लोक ही है, शास्त्र ने उसका विकास किया है। शास्त्र ने अपना विकसित रूप फिर लोक को दिया तथा लोक में वह फिर आगे बढ़ा। गाँव में जो लोक बसता है, वह व्यक्ति के मन को बाँधता है, संस्कारित करता है और उसे सामाजिक बनाता है। इस संग्रह में आई लोक की उक्तियाँ व्यक्ति के मन को दुलारती हैं, डाँटती हैं, फटकारती हैं, व्यंग्य-बाणों का प्रहार भी करती हैं तो समझाती भी हैं। व्यक्ति का मार्गदर्शन करने वाले, उचित और अनुचित, पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ, सही और गलत के विवेक की प्रतिष्ठा इस संग्रह के पदों के केन्द्र में आए ‘लोक’

द्वारा संभव हुई है। इसीलिए इन पदों को पढ़कर पाठक भावित होता है, क्योंकि लोक उसके भीतर भी बैठा है। उल्लेखनीय है कि लोग शब्द की व्युत्पत्ति ‘लोक’ से ही हुई है। आधुनिक और उत्तर आधुनिक व्यक्ति में भी अपने परिवेश और परंपरा के योग से युगों के संस्कार बसे होते हैं और जैसे धरती में छिपे हुए बीज अनुकूल ऋतु आने पर अंकुरित हो जाते हैं, वैसे ही आधुनिक मानस में भी वे मूल संस्कार ऐसी रचनाओं को पढ़कर जाग जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति अपनी परंपरा से कट ही नहीं सकता, वरना वह ‘लोग’ कैसे रहेगा।

‘भइया अपने गाँव में’ बुंदेली बोली में इसी अंचल के बारे में रचित मुक्तकों का संग्रह है। इन मुक्तकों में बुंदेलखंड की विलुप्त होती लोकरीति का सुंदर संगुम्फन हुआ है। ऐसे समय में जहाँ आधुनिकता और उसकी उत्तरोत्तरता में परंपरा और संस्कृति के अवशेष मात्र बचे हैं, बुंदेली के इन पदों को पढ़कर हम पाते हैं कि हम इस दौर से कितना आगे निकल आए हैं। किसी संस्कृति के मूल स्वरूप का दर्शन आधुनिक समाज में दुष्कर हो गया है। समय परिवर्तनशील है, किंतु समाज उससे भी अधिक वेग से प्रतिपल बदलता जा रहा है। पल भर को भरपूर जी लेने की आकांक्षा मनुष्य में बलवती हो गई है। मनुष्य पुरातन से विच्छिन्न हो रहा है, आधुनिक पीढ़ी का एक वर्ग अपनी धरोहर को संजोने को अवांछित-सा मानने लगा है। ऐसे में इन पदों से गुजरते हुए पाठक को बरबस अपने जिए हुए समय का स्मरण हो आता है।

व्यक्ति का मूल और आदिगृह गाँव ही है, देश बाहरी और बाद के हैं। शेष तो वैसा ही है, जैसे किसी शरीर पर पहने हुए वस्त्र। गाँव संस्कृत ‘ग्राम’ का तद्भव शब्द है। ग्राम का व्युत्पत्तिक अर्थ ‘समूह’ होता है। घरों के समूह को गाँव कहा गया। गाँव सभ्यता की प्रारंभिक इकाई है। सर्वप्रथम गाँव अकृत्रिम रूप से अस्तित्व में आए, किंतु अब ‘राही’ ग्वालियरी के शब्दों में यदि कहें-

*गाँव गुम शहर की जमीनों में,
आदमी खो गए मशीनों में।
हर तरफ आग ही आग लगी क्यूं है,
देश के सावनी महीनों में।*

‘आपका ये सफर ना तै होगा,
बैठकर कागजी सफ़ीनों में।
आज पत्थर तलाशता हूँ
कल ये गिने जाएंगे नगीनों में।’

फिर भी, गाँव में आज भी अपनापा है, सौजन्य है, सौम्यता है, सरलता और सादगी है; सहयोग है, सहकार है, संवेदनशीलता है, संस्कार हैं। दुरभिसंधियां भी हैं, किंतु गाँव से जुड़कर व्यक्ति बाहरी विशिष्टताओं के आवरण को उतार देता है और अपने को धरातल से संलग्न महसूस करता है। गाँव से मृत्यु-पर्यंत जुड़े रहे बाबा नागार्जुन को अपनी छोटी सी कविता ‘सिंदूर तिलकित भाल’ में जब अपने तरउनी गाँव के एक-एक उपादान की याद आती है तो पाठक भी अपने ‘तरउनी’ से जुड़े बिना नहीं रह पाता, क्योंकि नागार्जुन की पीड़ा है कि अन्यत्र जीवन भर रह लेने के बाद भी लोग प्रवासी ही कहेंगे। ‘गाँव’ और ‘लोक’ शब्द दो हैं, किंतु इनकी अंतर्ध्वनि एक ही है। लोक जहाँ अपने मूल में बसता है, वह गाँव ही है। किसी राष्ट्र को चलाने और दिशा निर्धारण के लिए लोक-स्वीकृति अनिवार्य है। इसीलिए अपने देश में लोकसभा और लोकतंत्र जैसे शब्द और व्यवस्था स्वीकृत हैं। भाषाशास्त्री पतंजलि ने भाषा संबंधी विवेचन में लोक को अंतिम प्रमाण माना है। धर्मशास्त्र में लोकविरुद्ध कार्य को अस्वीकार्य कहा गया- ‘यद्यपि सिद्धं लोकविरुद्धं ना करणीयम् ना चरणीयम्’। प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि जो शास्त्र को जानता है, लोक को नहीं जानता, वह मूर्खतुल्य है- ‘शास्त्रज्ञोप्यलोकज्ञो भवेन्मूर्खतुल्यः’।

लोक में अनेकता और वैविध्य है, फिर भी उसकी अंतर्धारा एकता और समानता की है। विजित और विजेता दोनों का ज्ञान और संस्कृति लोक की व्यापकता में अंतर्भुक्त हो जाती है। यहाँ तक कि अभिजात चेतना जिसको कहा जाता है, वह भी लोक में मिलकर धन्यता का अनुभव करती है।

प्रस्तुत संग्रह में आए अनसुने-से शब्दों के दिए गए क्रियापरक अर्थ यथासंभव उनकी व्युत्पत्ति से जोड़ते हुए किए गए हैं, जिससे पाठक रचनाकार की भावभूमि से ही काव्य का आस्वाद ग्रहण कर सके। वर्तमान में हिंदी में यों भी सृजनशीलता घट गई है, बोलियों

के सामने तो उनके अस्तित्व का संकट मंडरा रहा है। बोलियों के साहित्य में सामान्य पाठक तक सहजता से पहुँच सकने वाली ऐसी बोधगम्य भावपूर्ण किताबों की कमी है, जो अपने समय और समाज का यथार्थ एवं वास्तविक चित्रण करते हुए साहित्य की श्रीवृद्धि करें। यह संग्रह हिंदी साहित्य में इस अभाव की पूर्ति में किया जाने वाला एक सत्प्रयास सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। सब मिलाकर यह एक पठनीय बुंदेली काव्य है। जिसके बारे में श्री वीरेंद्र केशव साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पं. हरिविष्णु अवस्थी ने कहा है- ‘लंबी कविताएँ लिखने का एक इतिहास रहा है, कुछ समय से लंबी कविताओं के स्थान पर छोटी-छोटी कविताएँ लिखने का चलन चल पड़ा था। ‘भइया अपने गाँव में’ शीर्षक रचना इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में बुंदेली बोली में रची प्रथम लंबी रचना है। वस्तुतः कवि की इस लंबी काव्य रचना का उद्देश्य दूरस्थ अंचल में स्थित ग्राम्य जीवन की सजीव एवं नयनाभिराम झाँकी उनकी ही बोली-बानी (ग्रामीण बुंदेली) में प्रस्तुत करना प्रतीत होता है। कवि को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।’ साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त बांगला-हिंदी अनुवादक वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. रामशंकर द्विवेदी का कहना है- ‘किसी भी साहित्यिक भाषा में जीवंतता के अनुपात का माप उसमें प्रयुक्त होने वाली शब्दावली है। इस प्रकार देखा जाए तो बुंदेली की ठेठ शब्दावली की रक्षा की इधर बहुत बड़ी जरूरत हो गई है। इस शब्दावली को बचाने का एकमात्र उपाय उसे रचना की भाषा बनाना है। इस दृष्टि से पं० बाबूलाल द्विवेदी ‘मधुप’ जी का यह प्रयास स्तुत्य और सराहनीय है।’ वहीं बुंदेली शब्दकोषकार एवं लोक साहित्यकार डॉ. कैलाश बिहारी द्विवेदी के अनुसार ‘पूर्वावस्था से तुलना के कारण कवि के भावुक मन में यह प्रश्न बार-बार उठता है कि ‘कितै हिरा गए बे नौने दिन.....।’ कहीं-कहीं इस भाव-यात्रा में कुछ इतिहास आदि की बातें भी आ जाती हैं, जो विषय की दृष्टि से अप्रासंगिक और बेमेल सी लगती हैं; परंतु उन्हें परिस्थितियों से खिन्न एवं उदास मन के उच्छ्वास मानना चाहिए।’ हिंदी और बुंदेली के साहित्यकार डॉ. दुर्गेश दीक्षित का आकलन है- ‘ई हैरानगती में जो थोरौ-भौत लिखत-पड़त हैं सो भौत बड़ी बात है। कछू दिना सें बुंदेली में भौत काम होत दिखा रओ। पद्य तो आल्हखंड, ईसुरी सें लेकें आजनों खूब लिखो गओ।

और तो और इतै के विश्वविद्यालयन में बुंदेली पढ़ाई जान लगी है। आकासवानी उर दूरदरसन के केन्द्रन सें ईकौ प्रसारन होन लगो है। निबंध, नाटक, कहानी उर उपन्यास नों बुंदेली में लिखे जान लगो। कैउ पत्रिका शुद्ध बुंदेली में छपी जान लगीं। अब बताओ ऐसे में हमाए पं० बाबूलाल जू दुवेदी कैसैं पाछें रै सकत ते। संस्कृत के भौत बड़े पंडित होबे के संगै बुंदेली साहित्य उर संस्कृति में जे खूब रचे-बसे हैं। माँ बुंदेली की तो उनके ऊपर पूरी किरपा हैइ। भासा, छंद उर ब्यंजना की उनें पकड़है। छिल्ला जैसे हलके से गाँव में रैकें इत्तौ अच्छौ ग्रंथ लिखबौ कछू हँसी खेल नइयां। सांसी कइ जाय तो जौ उनकी एकांत साधना कौ सुफल है।' उपन्यासकार सुरेंद्र नायक ने कहा है- 'इसमें कवि का वह स्वप्निल स्मृति लोक समाहित है, जिसको कवि ने स्वयं जिया है। कविताएँ अतीतजीवी होते हुए भी यदा-कदा वर्तमान में संक्रमण करती हैं, जहाँ कवि प्रकारांतर से वर्तमान के तनावपूर्ण एवं जटिल परिवेश के प्रति

अपना आक्रोश, प्रतिरोध एवं क्षोभ व्यक्त करता है।' भास्कर सिंह 'माणिक्य' 'युगकवि' कहते हैं- 'यह संग्रह विविधता से परिपूर्ण है। इन कविताओं में हर स्थान पर बुंदेली लोक जीवन प्रतिध्वनित हो रहा है।' बुंदेली कवि रामरूप स्वर्णकार 'पंकज' कहते हैं- 'आपकी एक-एक लाइन अपुन को बुंदेलखंड की धरती की जानकारी करा रई जैसे इतै के रीति-रिवाजन, परंपराओं, तीज-त्योहारन, चाल-चलन की बात बता रई।'

इस प्रकार श्री द्विवेदी और उनके कृतित्व का यह परिचय उनके व्यक्तित्व की विराटता को देखते हुए और कृतित्व के विविध आयामों को अनावृत करने की दृष्टि से लघु ही है, किंतु यह बुंदेली लोक और उसके मानस को किंचित् अछूते पक्षों के साथ और व्यक्त पहलुओं को परिपुष्ट करने के रूप में देखने के लिए उपयोगी होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

लोक अध्येता : गोस्वामी तुलसीदास

डॉ. अंशुबाला मिश्र

लोकनायक गोस्वामी तुलसीदासजी सच्चे अर्थों में लोक-जीवन के अध्येता एवं प्रस्तोता हैं। उनका सम्पूर्ण काव्य लोक-जीवन से अनुप्राणित है। उसमें भी मानस तो लोक-तत्त्व की व्याख्या से भरा पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित मानस में लोक व्यवहार को प्रतिपादित करने के लिए उसी के अनुरूप भाषा एवं प्रसंगों का चयन किया। यही कारण है कि वे मानस में लोक-तत्त्व को बड़ी सच्चाई के साथ व्याख्यायित कर पाये। उनका रामचरित मानस जन-जन से परिचित और घर-घर में स्थापित है। देशकाल, परिस्थिति के अनुरूप कही गई बातें एवं बातों की व्याख्या में प्रयुक्त प्रतीक, रूपक और उनसे निर्मित जीवन का लोक बिम्ब सब कुछ लोक-जीवन को अंदर तक छू जाते हैं। इन लोक बिम्बों की गहरी अनुभूति लम्बे समय तक पाठक के हृदय एवं मन पर गहरी छाप छोड़ती है।

ऐसा लगता है, जैसे जीवन के लोक-तत्त्व अपने औचित्य का पूर्ण नियोजन करते हुए क्रमशः आँखों के समक्ष प्रतिफलित हो रहे हैं। कर्म और परिणाम एक साथ आदेश और निषेध का निर्णय कर देते हैं। सारा का सारा लोक जीवन भित्तिचित्र के समान कुछ क्षणों के लिए मानस पटल पर ठिठक जाता है। अपनी व्यापक लोकदृष्टि के कारण गोस्वामी जी एक तथ्य को अलग ढंग से एवं अपनी अलग रचनाओं में अनूठे ढंग से प्रस्तुत करते हैं-

का बरषा जब कृषि सुखाने, समय चूकि पुनि का पछताने।

रामचरित मानस 2/261/5

तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा, मुए करइ का सुधा तड़ागा ।

- मानस- 2/261/6

अवसर कौड़ी जो चूकै, बहुरि दिये का लाख ।

दुइज न चंदा देखिये, उदौ कहा भरि पाख ।

- दोहावली - /344

मन पछितैहैं अवसर बीते ।

- विनय पत्रिका / 198

यथा समय, सही कार्य न करने से जो हानि होती है, उसकी भरपाई पश्चाताप करने से नहीं हो सकती। चूक होने से जो कुप्रभाव पड़ता है, उसका भय दिखाकर सजग रहने की प्रेरणा दी गई है।

प्रथम उदाहरण में उन्होंने लोक-जीवन के मूल तत्त्व वर्षा को प्रस्तुत किया है। जैसे कृषि सूख जाने पर वर्षा का होना कोई मायने नहीं रखता। इसी प्रकार समय व्यतीत हो जाने पर उस समय के लिए पश्चाताप करना भी कोई मायने नहीं रखता। दूसरा उदाहरण भी वर्षा का है- यदि व्यक्ति प्यास से बिना पानी के मर जाये, प्राण त्याग दे तो उसके मरणोपरांत मुँह में अमृत डालने से क्या लाभ होगा? समय पर पानी की बराबरी अमृत भी नहीं कर सकता। समय और आवश्यकता समाप्त हो जाने पर बहुमूल्य वस्तु भी निर्मूल्य हो जाती है। इसी प्रकार तीसरे उदाहरण में भी समय की महत्ता को देखते हुए कार्य करने की बात कही गई है। सही वक्त पर कौड़ी उपलब्ध न रहे तो बाद में लाख होने से क्या फायदा? दूज का चाँद द्वितीया पर न दिखे, बाद में पूर्णिमा पर पूरा चाँद भी दिख जाये तो किस काम का? तात्पर्य स्पष्ट है कि सही समय पर सही कार्य पूर्ण करना चाहिए। दोहावली और विनयपत्रिका के उदाहरणों को भी तुलसीदासजी ने अपनी लोकपरक गूढ़ दृष्टि से व्याख्यायित किया है। प्रेम और विश्वास की बड़ी सुंदर व्याख्या गोसाईंजी ने की है। प्रेम का आधार परिचय है, परिचय के पश्चात् विश्वास होता है। विश्वास गहरा होते ही प्रेम का भाव पलने लगता है। बिना जाने-पहचाने विश्वास हो ही नहीं सकता। व्यवहारिक रूप से जीवन के इस तथ्य को रामचरित मानस में इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है-

जाने बिनु न होई परतीति, बिनु परतीति होई नहिं प्रीति ॥

प्रीति बिना नहीं भगति दूढ़ाई, जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥

प्रेम के बिना भक्ति दृढ़ नहीं हो सकती, वैसे ही जैसे हे खगराज! जल पर चिकनाई नहीं रूक सकती। जल सबको धो डालता है, इसी प्रकार अज्ञानता या अपरिचित होना सम्बन्धों को टिकने नहीं देता। प्रेम और विश्वास भक्ति के लिए आवश्यक है।

भक्ति के बिना श्रीराम द्रवित नहीं होते और उनकी कृपा के बिना जीवन को स्वप्न में भी शांति नहीं मिलती -

बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ।

राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिश्रामु ।

- मानस /7/90

गुरू के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है-

बिनु गुरू होइ कि ग्यान, ग्यान कि होइ बिराग बिनु

- मानस 7/912/89

आज धर्म की आड़ में अनेक कुकर्म किये जा रहे हैं। ढोंगी लोग अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए नये-नये पंथ बना रहे हैं। धर्म का वास्तविक रूप और उद्देश्य कलियुग में लुप्त होता जा रहा है। आज के इस लोक-सत्य को गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस में इस प्रकार व्याख्यायित किया है-

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सद्ग्रंथ ।

दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किये बहु पंथ ॥

आज के संत सुख सुविधा में लीन हैं। उनके वैभव के आगे गृहस्थ दरिद्र सा लगता है, ऐसे में भला वैराग्य कैसे सम्भव है-

बहु दाम सँवारिंह धाम जती, विषया हरि लीन्हि न सहे बिरती ।

तपसी धनवंत दरिद्र गृही कलि कौतुल तात न जात कही ॥

- मानस 7/ 923/ छंद

वर्तमान समाज का एक जीता-जागता सत्य उद्घाटित करते हुए गोस्वामीजी ने बहुत पहले कल्पना कर ली थी कि कलियुग में सती- सावित्री के समान कुलशील पत्नी को घर से बाहर करके लोग दासी/ नौकरानी को पत्नी की तरह रख रहे हैं।

पुत्र अपने माता-पिता के बजाय पत्नी को अधिक महत्त्व देते हैं-

कुलवर्ति निकारहिं नारि सती । गृह आनहिं चेरि निबेरि जती ॥
सुत मानहिं मातु-पिता तब लौं । अबलानन दीख नहीं जब लौं ॥

- मानस 7/ 925/ छंद

अपने माता-पिता को त्यागकर लोग पत्नी के माँ-बाप (सास-श्वसुर) को अधिक सगा समझने लगे। भाई-बंधु कुटुम्ब को छोड़कर ससुराल वालों को सगा-सम्बन्धी समझने लगे। राजा जो धर्म के रक्षक थे, वे पापी हो गए। प्रजा के रक्षक ही आज उसे यातनाएँ देकर स्वयं दम्भ भरते हैं-

ससुरारि पियारि लगी जब ते । रिपु रूप कुटुम्ब भये तबते ॥
नृप पाप परायन धर्म नहीं । करि
दंड विडम्ब प्रजा नितही ॥

- मानस 7/924/3

आज की सामाजिक अवस्था में लुटेरे गुरु और शिष्य का सम्बन्ध अंधे और बहरे का है। शिष्य गुरु के उपदेश को सुनता नहीं और गुरु शिष्य के बुरे कर्म को देखता नहीं, दोनों का सम्बन्ध स्वार्थ का रह गया है-

गुरु सिष बधिर अंध का लेखा,
एक न सुनइ एक न देखा ।

मानस 7/922/5

हरइ सिष्य धन सोक न हरई, सो गुरु घोर नरक महुँ परई ।
मातु-पिता बालकन्हि बोलावहिं, उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ।

-मानस 7/922/ 4

स्वार्थी गुरु, शिष्य से दान दक्षिणा तो ले लेता है, परन्तु उसके कष्ट को दूर नहीं करता। गुरु शिष्यों को ठग रहे हैं। माता-पिता बच्चों को धर्म का वही मार्ग बताते हैं जिससे पेट भरा जा सके। धर्म को अध्यात्म से अलग करके निजी स्वार्थ के लिए अपनाया जा रहा है।

ब्राह्मण अर्थात् विद्वान विदुषी पत्नी का पति न होकर व्यभिचारी, मूर्ख और कामी स्त्री को स्वीकार कर रहा है-

विप्र निरच्छर लोलुप कामी, निराचार सठ वृषली स्वामी ।

- मानस 7/912/4

प्रायः यह देखा जाता है कि लोग आध्यात्मिक भाव एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए बचपन से संन्यास नहीं ग्रहण कर हैं, बल्कि परिस्थितिबश पत्नी के मर जाने पर, बाल-बच्चे न होने से विवश एवं अकेला पड़ जाने पर या घर की सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर सिर मुँडाकर संन्यासी हो जाते हैं -

नारी मुई गृह सम्पत्ति नासी, मूड़ मुड़ाई होहिं संन्यासी ।

- मानस 7/922/3



इस प्रकार धार्मिक बनकर ढोंगी संन्यासियों एवं पांडित्य कर्म कराने वाले नकली विद्वानों ने समाज में छद्म रूप धारण कर जो झूठा आडंबर फैला रखा है, उसका जीवन्त उदाहरण गोस्वामीजी ने मानस में प्रस्तुत किया। लोक-जीवन में व्याप्त छद्म से जनमानस को अवगत कराने का महती कार्य गोस्वामी तुलसीदासजी ने मानस के माध्यम से किया।

कई विरोधाभास वाले उद्धरणों के माध्यम से गोस्वामीजी ने भगवद्भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। विपरीत एवं निषेधात्मक गुणवाली वस्तुएँ भले ही एक हो जायें, परन्तु ईश्वर से विलग होकर सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता। लोक मान्यता है कि कछुए की पीठ पर बाल नहीं उगते, खरगोश के सींग नहीं होते, आकाश में फूल नहीं खिल सकता, मृगतृष्णा के जल से प्यास नहीं बुझती, अंधकार सूर्य का नाश नहीं कर सकता एवं बर्फ से अग्नि प्रकट नहीं हो सकती। भले ही ये समस्त निषेध सम्भव में बदल जायें, पर भगवान राम से विमुख जीव

सुखी नहीं हो सकता। जल को मथने से भले ही घी निकल जाये और बालू से भले ही तेल निकल आये, परन्तु भगवान के भजन बिना संसार रूपी समुद्र से नहीं तरा जा सकता -

कमठ पीठ जामहिं बरु बारा।
 बंध्या सुत बरु काहुहि मारा ॥
 फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला।
 जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला ॥
 तृषा जाइ बरु मृगजल वाना।
 बरु जामहिं सस सीस बिषाना ॥
 अंधकारु बरु रबिहि नसावै।
 राम बिमुख न जीव सुख पावै ॥
 हिम ते अनल प्रकट बरु होई।
 बिमुख राम सुख पाव न कोई ॥

दो- बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल ॥
 बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धांत अपेल ॥
 - मानस 7/956/8,9,10,122

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ।
 घृत कि पाव कोइ बारि बिलोए ॥

- मानस 7/48/3

लोक-जीवन में कहावत है कि 'जैसी करनी वैसी भरनी' मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। मानस में तुलसी ने इसे इस तरह व्याख्यायित किया है-

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
 जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥

- मानस 1/10/2

इस विश्व में कर्म ही प्रधान है। कर्म के अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है। निममागम एवं नीति भी ऐसा कहती है-

करइ जो करम पाव पल सोई।
 निगम नीति असि कह सबुकोई ॥

मानस 12/77/4

लोकजीवन में मान्यता है कि 'लातों के भूत बातों से नहीं मानते' नीति भी यही कहती है- सठे साट्यम् समाचरेत। दुष्ट के

साथ दुष्टता (सठता) का ही बर्ताव करना चाहिए। दुष्ट के साथ दण्ड का ही प्रावधान होना चाहिए, वह दण्ड से ही मानता है। जैसे -केला के वृक्ष को कितना भी पानी से सींचो, उसमें फल तब तक नहीं आ सकता, जब तक कि उसे ऊपर से काटा न जाये। इसी दृष्टांत को तुलसी ने मानस में इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

काटेहिं पइ कदरी फरइ, कोटि जतन कोउ सींच।
 बिनय न मान खगोस सुनु, डाटेहिं पर नव नीच ॥

- मानस 5/704/58

नवनि नीच कै अति दुखदायी।
 जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ॥

- मानस 3/24/4

नीच का झुकना भी अत्यंत दुःखदायी होता है, जैसे अंकुश, धनुष, साँप और बिल्ली का झुकना। इसी प्रकार बेंत लाख अमृत वर्षा होने पर न फूलता है, न फलता है। जैसे जड़ व्यक्ति को ज्ञान नहीं हो सकता, चाहे उसे कितना भी बड़ा गुरु क्यों न मिल जाये। लोकोक्ति में भी इसी तरह की बात कही गई है- पढ़ाये न पढ़े खूसर, नवावै न नवै मूसर।

फूलइ फरइ न बेंत जदपि सुधा बरसहिं जलद।
 मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं बिरहिं सम ॥

- मानस 6/721/16 (ख)

संसार में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो धन और ऐश्वर्य पाकर अहंकार से ग्रासित न हुआ हो। तुलसी ने मानस में इसे इस तरह प्रस्तुत किया है-

नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं।
 प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ॥

- मानस 2/60/4

अहंकार सभी दुःखों का कारण है, यह जन्म-मृत्यु रूप संसार का मूल है-

संसृत मूल सूलप्रद ना।
 सकल सोक दायक अभिमाना ॥

- मानस 7/74/3

भय के बिना प्रीति नहीं होती, इस उक्ति को मानस में समुद्र के माध्यम से कहा गया है-

बिनय न मानत जलधि जड़, गये तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति॥

- मानस 5/704/57

जो भाग्यवादी होते हैं, वे कभी सफल नहीं होते। ऐसे अकर्मण्य लोग कर्म करने के बजाय भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। इसे मानस में इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है-

कादर मन कहूँ एक अधारा,
दैव-दैव आलसी पुकारा।

- मानस 5/51/2

विधाता की गति को समझना बड़ा कठिन है। वह कब टेढ़ा हो जाये, कब उसकी कृपा हो जाये, कहा नहीं जा सकता। तुलसी ने इसकी बड़ी सटीक व्याख्या की है-

सखि बिधि गति कछु जाति न जानी

-मानस 1/256/3

विधि गति बाम सदा सब काहू

-मानस 5/551/1

पुराण और वेदों का मानना है सद्बुद्धि और कुबुद्धि सबके पास रहती है। किंतु जहाँ सद्बुद्धि (सुमति) रहती है, वहाँ सुख सम्पदा रहती है और जहाँ दुर्बुद्धि रहती है, वहाँ तमाम विपत्तियाँ रहती हैं-

सुमति कुमति सबकेउर रहहीं।
नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥
जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपत्ति निदाना।

-मानस 5/690/3

अग्नि का सहज स्वभाव है कि पाला उसके समीप जा ही नहीं सकता। यदि बर्फ अग्नि के समीप होगी तो पिघल जायेगी, उसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

तात अनलकर सहज सुभाऊ।
हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ॥

- मानस 1/90/4

ईश्वर की भक्ति से बढ़कर संसार में अन्य कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। ईश भक्ति सारे सुखों का खजाना है और भक्ति बिना सत्संग के प्राप्त नहीं होती। मानसकार ने इसे बहुत ही सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है-

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी।
बिनु सत्संग न पावहिं प्राणी॥

-मानस 7/45/3

भगति पच्छ हठ नहिं सठताई।
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥

-मानस 7/46/4

जो भक्ति के लिए हठ करता है, किन्तु (दूसरे के मत का खंडन करने की) मूर्खता नहीं करता, वह सब कुतर्कों से दूर रहता है।

लिंगोपेन और उनकी गाथा

निरंजन महावर

लिंगोपेन संपूर्ण गोंड जनजाति के एक प्रमुख देवता हैं। एक समय ऐसा भी था, जब गोंड और उनके परधान चारण लिंगोपेन की गाथा संपूर्ण मध्यवर्ती भारत में जहाँ-जहाँ गोंडजन निवास करते हैं, आदरपूर्वक गाया करते थे। मध्यवर्ती भारत का यह क्षेत्र जिसमें गोंड निवास करते हैं, मध्य युग में गोंडवाना के नाम से विख्यात था। लिंगोपेन की गाथा का विस्तार मिर्जापुर से गोदावरी नदी के तट तक उत्तर से दक्षिण और कंध (खोंड) क्षेत्र जो उड़ीसा में पूर्वी घाट पर्वत श्रृंखला में स्थित है, से लेकर पश्चिम में महाराष्ट्र के चंद्रपुर जिले तक विशाल भूभाग में प्रचलित थी।

विन्ध्य प्रदेश में अमरकंटक से लगभग बारह मील की दूरी पर एक पर्वत का नाम ही लिंगो है। रायपुर जिले की बिन्द्रावनगढ़ जमींदारी में लिंगोपेन और वर्षा के देवता भीमुल पेन दोनों को एक ही देवता माना जाता है। राजनांदगाँव जिले की भूतपूर्व जमींदारी डोंडी लोहारा में लिंगोपेन को उतना ही ऊँचा स्थान प्राप्त है, जितना गोंड देवलोक के अन्य बड़े देवता बूढ़ा देव या भीमुल पेन को।

फुरेर हैमनडार्क ने आन्ध्र-प्रदेश की गोंड जनजाति का गहन अध्ययन किया है और इस जनजाति की गाथाएँ तथा मिथकों का संकलन किया है। आन्ध्रप्रदेश में भी गोंड जाति के भाटों का कार्य परधान ही करते हैं। आदिलाबाद जिले के परधानों से संकलित गाथा में पहिन्डी कुपर लिंगाल अथवा लिंगो को गोंड देवताओं का मुक्तिदाता दर्शाया गया है, जिन्हें उनके उद्दण्ड व्यवहार और गंदी आदतों के कारण महादेव ने गुफा में बंद कर दिया था।

मण्डला क्षेत्र जो कभी गढ़ मण्डला के नाम से प्रसिद्ध था। वह गोंड राजाओं का राज्य था। इस क्षेत्र के गोंड और परधानों में आज भी लिंगोपेन की गाथा और लिंगो देवता का सम्मानजनक स्थान है। यहाँ प्रचलित गाथा के अनुसार लिंगो देव का जन्म लाँजीगढ़ में हुआ था। वहाँ एक धुरवा राजा राज्य करता था, जिसे लिंगो भगवान ने स्वप्न में दर्शन देकर बताया कि वे बाँस के एक पिण्ड से जन्म लेने वाले हैं। यदि वह उनकी सेवा करेगा तो वे उसे समृद्धि प्रदान करेंगे। मण्डला क्षेत्र में गोंड वर्तमान में भी एक प्रमुख जनजाति है और उनके भाट परधान आज भी लिंगो देव की गाथा गाते हैं।

उड़ीसा प्रदेश के खोंड जिन्हें नृतत्वशास्त्री गोंड परिवार का ही एक अंग मानते हैं और इसलिए वेरियर एल्विन ने इस जनजाति को खोंड, कोंध आदि नामों के बजाय कोंड कहना उचित समझा, जो नाम उच्चारण में गोंड शब्द के कहीं अधिक करीब प्रतीत होता है। उनके



देवलोक में एक प्रमुख देवता का नाम लिंगालपिन्नु है। लिंगाल पिन्नु ने ही उनकी अधिकांश सामाजिक संस्थाएँ बनाई और किशोर गृह को भी संस्था के रूप में स्थापित किया। यहाँ प्रचलित गाथा में कहा गया है कि लिंगाल पिन्नु ने ही विश्व की रचना की। उन्होंने ही मानव जाति की सृष्टि की। लिंगाल पिन्नु ने ही कुड़ अथवा गोंड जाति की सृष्टि की, उन्होंने ही प्रजा को बनाया। यहाँ प्रचलित गाथा के अनुसार लिंगाल पिन्नु का जन्म भूमि से गुम्मा और करंजा के बीच किसी स्थान पर हुआ था। उन्होंने ही जंगल साफ करके उन्हें जलाकर खेती (पेदा कृषि) करना सिखाया। उन्होंने ही बीज प्रदान किये।

मिर्जापुर क्षेत्र की गोंड और कोल जनजातियों में एक महत्वपूर्ण

देवता का नाम लिंगो है। उनके विषय में जो गाथा प्रचलित है, उसके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि लिंगों का ही अपभ्रंश लिंगो हो गया है।

सी.जी.सी. ट्रेन्च ने ग्रामर ऑफ गोंडी नामक ग्रंथ में लिंगो की बैतूल में प्रचलित गाथा उद्धृत की है, जो संभवतः अधिक आधुनिक है। लिंगो की गाथा का सर्वप्रथम दस्तावेजीकरण पादरी ऐस. हिस्लप ने नागपुर में एक गोंड परधान चारण से किया था, जिसका आर. टेम्पल द्वारा 1866 में संपादित रूप सन् 1916 में बिशप आर. चेटरटन ने द स्टोरी ऑफ गोंडवाना में किया था, जो

लंदन से प्रकाशित हुई थी। आर.वी. रसेल और रायबहादुर हीरालाल ने उसका संक्षिप्त अंश 'ट्राइक्स एण्ड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल इंडिया' में प्रकाशित किया है।

वर्तमान में लिंगो की गाथा का प्रचलन क्षीण होता जा रहा है। छत्तीसगढ़ के मैदानी गोंडों में अधिकांश लोग तो लिंगो के नाम से

परिचित ही नहीं हैं और जो थोड़े से लोग परिचित भी हैं, उनको लिंगों की गाथा के विषय में जानकारी नहीं के बराबर है। पी.एन. बोस ने छत्तीसगढ़ पर अपने एक शोध पत्र में लिखा है- लिंगो की पूजा कुछ क्षेत्रों में अत्यंत आदरपूर्वक होती है, जबकि अन्य क्षेत्रों में उनके नाम से भी लोग अपरिचित हैं। डाल्टन ने भी इस तथ्य का उल्लेख करते हुए कहा है कि- जिन गोंडों से मेरा परिचय है, वे लिंगो के विषय में अनभिज्ञ हैं। वर्तमान में लिंगो की आराधना एक जीवन्त शक्ति के रूप में बस्तर पठार के उत्तरी क्षेत्र में (आमा बेड़ा क्षेत्र) तक ही सीमित है, और विशिष्ट रूप से मुरियों तक ही, जिसने मुरियों को अनेक देवी-देवता प्रदान किये और उनकी सर्वाधिक प्रिय संस्थाएँ और रीति-रिवाजों को जन्म दिया।

लिंगो की देवगुड़ी (पूजा स्थल) आमा बेड़ा के समीप सेमुरगाँव में हुरा और पिंजोड़ी गाँवों के समीप में स्थित है। वह एक विशाल झोपड़ी में है, जो चारों ओर से खुली हुई है। बस्तर पठार पर एक रमणीय स्थान पर एक घने शालवन में स्थित है। उससे कुछ मीटर की दूरी पर ही उसकी पत्नि की गुड़ी स्थित है। लिंगो की गुड़ी में उसका विशाल आंगा छप्पर की मयालों से रस्सों से बांधकर लटकाया गया है और वह मोर पंखों से सुसज्जित है। लिंगो का यह संपूर्ण आकार एक खुली पालकी के समान है, जो दो लंबी आड़ी और दो काठ की खड़ी बल्लियों से बना है। इसके बीच में लिंगो का आंगा एक नाग सर्प के फण के अभिप्राय में स्थापित है। लिंगो के गले में पीतल की एक घंटी बंधी हुई है, जो 'नेतुर घुंटी' का प्रतीक है। लिंगो के हृदय स्थल पर लोहे का एक टुकड़ा टुका हुआ है, जिसमें लिंगो के प्राण हैं। इस लोहे को यहाँ के लोग 'जीव' कहते हैं, जिसे सूखी घास से ढंका हुआ है। लिंगो की पालकी या संपूर्ण ढांचे के चारों कोनों पर भी मोर के पंख बंधे हुए हैं। छप्पर की शहतीर से बांधकर गौर का एक सींग तुरही के रूप में और लोहे का एक नगाड़ा लटके हुए हैं। उन्हीं शहतीरों से पाली (पवित्र वस्त्र जो दिव्य माना जाता है) और लिंगो के दो घोड़े लटके हुए हैं। दो टेढ़ी छड़ी जिन पर भी मोरपंख बंधे हैं, वे भी वहाँ रखी हैं, जिन्हें लेकर सिरहा भाव में आने पर नाचता है।

लिंगो की गाथा का सर्वप्रथम संकलन नागपुर के एक गोंड परधान से फादर एस. हिस्लप ने किया था। वह गाथा मूलरूप से गोंडी भाषा में थी, जिसका संपादन आर. टेंपल ने किया था, परन्तु हिस्लप के लिए हुए नोट्स प्रकाशित नहीं हुए, जिससे उस गाथा की प्रमाणिकता पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ सका। गाथा का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने उस पर हिन्दू प्रभाव होने का आरोप लगाया है। वह परधान गायक चूँकि नागपुर में रहता था और उस पर हिन्दू प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, इसलिए संभव है कि गाथा में ऐसे तत्त्वों का समावेश हो गया हो, जो मूल गाथा की भावना से भिन्न हों। इस गाथा के प्रकाशन से पूर्व ही हिस्लप साहेब का निधन हो चुका था। अतः विवादास्पद अंशों पर उनका दृष्टिकोण या स्पष्टीकरण सामने नहीं आ सके। वेरियर एल्विन ने सेमुरगाँव के ही देवसिंह परधान से गाथा का संकलन किया था, जो स्वयं लिंगो का पुजारी था और वह कोरेटी नागवंश का था। लिंगो के

स्थान पर हर तीसरे वर्ष एक बड़ी मड़ई (मेला) लगती है, जिसमें दूर-दूर से लोग आते हैं। अधिक संख्या में लोग झोरियान, आमा बेड़ा, अन्तागढ़ और कांकेर परगनों से आते हैं। वे लोग लिंगो को अपना पूर्वज और राजा मानते हैं, जो उनको लंजी धमधा राज्य से निकालकर इस पठार पर लेकर आया था। यहाँ गोंड जाति के लोगों को लिंगो ने बसाया, इसलिए वे बस्तर को लिंगो का ही राज्य मानते हैं।

गोंडी भाषा की अपनी कोई लिपि नहीं थी। गोंडी भाषा 'पूर्व द्रविणीयन' भाषा मानी जा सकती है, जिससे दक्षिण की अन्य सभी भाषाओं की उत्पत्ति हुई होगी। इसी प्रकार से भारत की अन्य प्राचीन भाषाओं की भी लिपियाँ नहीं थी। जैसे हो, मुण्डा, संथाली, कोल खेड़वा, अराँव और कोरकू जनजातियों की बोलियाँ तो थी, परन्तु उनकी लिपियाँ नहीं थी। इस कारण से उनकी भाषा का संपूर्ण साहित्य वाचिक परंपरा में ही रह गया। मिर्जापुर से गोदावरी तट तक और वैनगंगा से पूर्वी तट तक फैली हुई यह जनजाति भारत के सबसे बड़े भूभाग में बसने वाली जनजाति है। वर्तमान में संपूर्ण गोंड जनजाति की आबादी एक करोड़ से ऊपर अनुमानित है। गोंड जनजाति की अनेक उपजातियाँ हैं, वे भी अध्ययन की दृष्टि से स्वतंत्र जनजातियों के रूप में ही मान्य हैं। उदाहरण के लिए बस्तर जिले की ही मुरिया, अबूझमाड़िया, दोर्ला, डंडामी माड़िया, धुखा और भतरा, ये सभी जनजातियाँ वृहत्तर गोंड समूह की उपजातियाँ हैं, परन्तु ये सभी स्वतंत्र जनजातियों के रूप में मान्य हैं। संभवतः इसका कारण गोंड जनजाति के निवास क्षेत्र का अत्याधिक विस्तृत होना हो सकता है, जिसके कारण एक समूह का दूसरे भौगोलिक समूह के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं रह सका हो।

गोंड जनजाति के विभिन्न क्षेत्र और विभिन्न समूहों में भी विकास की दृष्टि से बहुत अधिक वैभिन्न देखने को मिलता है। जहाँ मध्यवर्ती भारत में गोंड जनजाति ने अपने कुछ राज्य स्थापित कर लिए थे, वहीं अधिकांश गोंड जाति की अर्थव्यवस्था आज भी कृषि एवं वनोपज संग्रह पर ही निर्भर है। गोंड जनजाति में ही अबूझमाड़िया जैसे भी समूह हैं, जो विकास की अत्यन्त आदिम अवस्था में रह रहे हैं। बेवर या पदा खेती, आखेट और कंदमूल फल पर ही उनकी आजीविका निर्भर है। अबूझमाड़ में तो अभी

भी हल और बैलों का उपयोग कृषि में आरंभ नहीं हुआ है। संपूर्ण गोंड जनजाति में विकास के इतने स्तर एक साथ विद्यमान होते हुए भी, उनकी जीवन शैली में इतनी विविधता होते हुए भी उनके सांस्कृतिक लक्षणों में अनेक समानताओं के कारण गोंड जनजाति अपने संपूर्ण समूहों को मिलाकर भी एक विशाल जनजाति के रूप में अपनी पहचान कायम रखने में सक्षम रही है। इन सभी उप जनजातियों के, जो पृथक जनजातियों के रूप में स्थापित हो चुकी हैं, वृहत्तर समूह को आज भी विशाल गोंड जनजाति के रूप में ही पहचाना जाता है।

भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र में प्रमुख जनजाति गोंड निवास करती हैं, जिसके पूर्वी दिशा में मोटे तौर पर हो, मुंडा जनजातीय समूहों का निवास क्षेत्र छोटा नागपुर है और पश्चिम में भील जनजाति का निवास क्षेत्र है, जो पश्चिमी मध्यप्रदेश, पूर्वी गुजरात तथा उत्तर पूर्वी राजस्थान तथा महाराष्ट्र के थोड़े से क्षेत्र को मिलाकर एक बड़े भूभाग में निवास करती हैं। इन सभी क्षेत्रों में लगभग इन जनजातियों के क्षेत्र संलग्न हैं, परंतु प्राचीन काल में हुए प्रव्रजनों के कारण बीच-बीच में दूसरे जनजातीय समूह यहाँ आ बसे हैं। मध्य भारत के कोरकू, बैगा, कोल, सहरिया, साँवरा, कोरवा आदि जो जनजातियाँ गोंड क्षेत्र में मिलती हैं, वे मोटे तौर पर कोलेरियन समूह की जनजातियाँ हैं, जिनके सहोदर हो- मुंडा जनजाति के लोग हैं। उसी प्रकार से कोंड, खोंड या कंध, कोया जनजातियाँ गोंड समूह की हैं, वे पूर्वी हो- मुंडा क्षेत्र में बसी हुई हैं। नृतत्वशास्त्रियों का मत है कि भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र में लगभग दस हजार वर्ष से भी अधिक पहले कोलेरियन समूह की जनजातियाँ ही निवास करती थीं और गोंड जनजाति समूह का आगमन दस हजार वर्ष पूर्व इस भूभाग में दक्षिण की ओर से संभवतः गोदावरी तट से हुआ होगा। गोंड जनजाति के प्रभाव एवं प्रभुत्व के परिणामस्वरूप गोंडवाना क्षेत्र की कोलेरियन जनजातियों की अपनी भाषा लुप्त हो गई, ऐसा प्रतीत होता है।

गोंड जनजाति का मूलनाम कुई, कोई या कोईतुर है। आन्ध्रप्रदेश और उड़ीसा के मलकानगिरी क्षेत्र के गोंड वर्तमान में भी अपने आपको कोया या कोयी कहते हैं। गोंड नाम उन्हें संभवतः उनके हिन्दू पड़ोसियों द्वारा प्रदत्त प्रतीत होता है। गोंड जनजाति के विषय में बेहराम एच. मेहता का कथन है- 'गोंडों ने उन लोगों को

सदैव उत्साहित किया है, जो उनके बीच आकर बसना चाहते हैं। सर्वाधिक प्राचीन और सर्वाधिक सरल प्रकृति के ये लोग जिनके पास गहरी जीवन दृष्टि और अनुभव है, वे अपनी अच्छाई के कारण सौहार्द्र को अनुप्रेरित करते हैं। वे प्रकृति और अभावों के बीच सुखीजन हैं, जिन्होंने अपने परिवेश को अपनाकर उसके साथ पूर्णरूप से संगति स्थापित कर ली है, जो अपने भूतकाल को भुलाकर जीवन के नये मार्ग और नयी शैली को अपनाकर उत्साहपूर्वक रूचि के साथ आगे बढ़ने के लिये इच्छुक हैं। इस समाज में विद्वेष एवं घृणा लेशमात्र भी नहीं है, जो इस तथ्य से परिलक्षित होता है कि बाहुजनों, विजेता तथा अन्य दूसरे लोगों के साथ भी जिस प्रकार से गोंड मिलकर रहे हैं, उस प्रकार से अन्य किसी भी जाति के लोग नहीं रहे होंगे। फिर भी उन्होंने अपनी गोंड संस्कृति की छाप को बनाये रखा। प्रेम, यौन तथा विवाह के प्रति उनकी जीवन दृष्टि इतनी बुद्धिमत्तापूर्ण है कि दिखावा करने वाला परिष्कृत समाज का कोई भी व्यक्ति उनके सरल व्यवहार से चकरा जायेगा। अपने इन्हीं गुणों के कारण सरल स्वभाव के गोंडजन दक्षिण में द्रविड़ों से और उत्तर में राजपूत, मराठा, मुस्लिम और अंग्रेजों के साथ बुद्धिमत्तापूर्ण मानवीय सम्बन्ध स्थापित करने में सफल रहे।

मध्य युग में मध्यवर्ती भारत में गोंड राज्यों का उदय हुआ और चंद्रपुर, गढ़ मण्डला, धमधागढ़, लंजीगढ़, लाफागढ़ आदि अनेक राज्य गोंड राजाओं के अधीन आ गये। मुगलकाल में गोंड राजाओं का संघर्ष मुगलों से भी हुआ। कलचुरियों की शक्ति क्षीण होने पर त्रिपुरी, रतनपुर और रायपुर के अधीनस्थ अनेक गोंड रजवाड़े और जमींदार स्वतंत्र हो गये। इन रजवाड़ों के माध्यम से अनेक गोंड राजा और जमींदारों का उदय हुआ, जो शासक होने के कारण अपने आपको राजपूतों के समकक्ष समझने लगे और गोंड राजपूत या गोंड ठाकुर कहलाने लगे। इनमें से अनेक लोगों के रोटी-बेटी के सम्बन्ध उत्तर के राजपूत राजाओं और ठिकानेदारों से स्थापित हो गये। गोंडों में इन परिवर्तनों के फलस्वरूप एक उच्च वर्ग स्थापित हो गया, जो अपने आपको राजवंशी गोंड अथवा राजगोंड कहने लगा। इन स्थितियों में गोंड जनजाति पर व्यापक हिन्दू प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। गोंड जनजाति ने अनेक हिन्दू रीति-रिवाजों को अपना लिया और बहुत सीमा तक वे हिन्दू जाति

के अंग बन गये। इस परिवर्तन का प्रभाव उनके धार्मिक आचार-विचार और रीति-रिवाजों पर भी पड़ा। वे हिन्दू देवी-देवताओं की भी पूजा करने लगे और साथ ही अपने देवलोक के देवी-देवताओं को हिन्दू देवी-देवताओं के रूप में देखने लगे। बूढ़ादेव महादेव में समाहित हो गये और उनकी मातृ देवियाँ गौरी या दुर्गा के रूप में समाहित हो गईं।

गोंडों के परधान भाट जो सुदूर अंचलों तक यात्राएँ करके अपने गोंड यजमानों से संपर्क बनाये हुए थे, उन्होंने इस हिन्दू प्रभाव को सर्वाधिक ग्रहण किया। वे हिन्दू प्रभाव में आये हुए गोंड राजाओं और गोंड प्रजा के बीच एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक कड़ी का कार्य सम्पन्न कर रहे थे। वे स्वयं भी हिन्दू प्रभाव में आ चुके थे। इन सब बातों का प्रभाव स्वाभाविक रूप से गोंड मिथकों, गाथाओं और कथाओं पर पड़ा। यदि हिस्लप के द्वारा नागपुर के परधान गायक से संकलित लिंगोपेन की गाथा पर नृतत्व शास्त्रियों को हिन्दू प्रभाव दिखाई पड़ता है, तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। गोंड समाज के बाह्य संपर्क के कारण उनमें असांस्कृतिकरण एवं भारी सामाजिक परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था। चूँकि उनकी अपनी भाषा गोंडी की कोई लिपि नहीं थी, अतः उनकी गाथाओं एवं मिथकों का मूल स्वरूप क्या था, यह कहीं भी लिपिबद्ध नहीं होने के कारण सुरक्षित नहीं रह सका। संपूर्ण गोंडी साहित्य तथा उनकी धर्म सम्बन्धी गाथाएँ वाचिक परम्परा में ही थी, इसलिए उन पर बाह्य संपर्कों के कारण पड़ने वाले प्रभावों से वे अछूती नहीं रह सकीं। 'आदिम बोलियों की अपनी कोई लिपि नहीं थी, यद्यपि उनके अपने कवि, विचारक और जातीय स्मृतियाँ थीं। वे अपनी उत्पत्ति के प्रति सजग थे, और उनकी अपनी मूलजाति के प्रति आग्रह उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा हेतु था। संभवतः भारत में शायद ही गोंड जाति के अतिरिक्त ऐसा कोई आदिम समूह हो, जिसमें इतनी गाथाएँ एवं आख्यान विद्यमान हों जितने गोंड जनजाति के विभिन्न समुदायों ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपने पीछे जातीय स्मृति के रूप में छोड़े हैं। यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी कि भारत के विकास के साथ-साथ आदिवासी समाज की पहचान ही मिट जाये और गोंड जाति का समृद्ध लोक साहित्य भारतीय अध्येताओं, इतिहासकारों और नृतत्वशास्त्रियों के अध्ययन से उपेक्षित रह जाये।

गोंड गाथाओं का सर्वप्रथम संकलन जैसा कि मैंने पूर्व में ही उल्लेख किया है, रेवेन्ड हिस्लप ने किया था जो फ्री चर्च ऑफ इंग्लैंड से सम्बद्ध थे। उनके द्वारा संकलित गाथाएँ सर रिचर्ड टेंपल ने संपादित करके 'हिस्लप पेपर्स' के रूप में प्रकाशित की थीं, जो एक अंग्रेज प्रशासनिक अधिकारी थे। हिस्लप द्वारा संकलित गाथा को केप्टेन फोरसिथ ने अपने ग्रंथ 'दी हाईलैंड्स ऑफ सेंट्रल इंडिया' में हैवथ छंद में प्रकाशित किया था। अपने ग्रंथ में उन्होंने एक पूरा अध्याय ही 'दी ले ऑफ लिंगो' के नाम से रखा था। हैवथ अमेरिका के रेड इन्डियन्स के पैगम्बर थे। केप्टेन फोरसिथ को लिंगो की गाथा और हैवथ की गाथा में काफी समानता दिखाई पड़ी, इसलिए उन्होंने लिंगो की गाथा का अनुवाद हैवथ गाथा के छन्द में करना उचित समझा। केप्टेन फोरसिथ अंग्रेजी सेना के एक अधिकारी थे और वे निमाड़ के डिप्टी कमिश्नर तथा सी.पी. के कन्जर्वेटर ऑफ फारेस्ट्स रहे। उन्हें मध्य भारत की भौगोलिक जानकारी के साथ ही साथ इस क्षेत्र की जनजातियों की विशेष रूप से गोंड जनजाति की अच्छी जानकारी थी। फोरसिथ की पुस्तक का प्रकाशन सन् 1872 में हुआ था।

आर.बी. रसेल और राय बहादुर हीरालाल ने 'द ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ सेंट्रल इंडिया' में गोंड जनजाति से संबंधित अपने अध्याय में लिंगो की गाथा को उद्धृत किया है। इस गाथा का पूर्व अंश तो उन्होंने फोरसिथ के अनुवाद से ही अपनाया है, परन्तु बाद के अंश का उन्होंने स्वयं अनुवाद किया है। वेरियर एल्विन ने कैप्टेन फोरसिथ के अनुवाद को अच्छा नहीं माना है, परन्तु रसेल द्वारा अनुवादित अंश की प्रशंसा की है।

सी. फुरेर हैमनडॉर्फ ने आन्ध्रप्रदेश के आदिलाबाद क्षेत्र के परधानों से लिंगो की गाथा तथा अन्य गोंड गाथाएँ संकलित की हैं, जिनमें गोंडों के गोत्रों की उत्पत्ति सम्बन्धी जानकारी भी मिलती है। आदिलाबाद की गाथा में जंगोबाई नामक एक महत्वपूर्ण चरित्र का वर्णन भी मिलता है, जो हिस्लप की तथा बस्तर की गाथाओं में नहीं मिलता। इसी प्रकार से गोंड देवताओं के साथ ही मराठा देवताओं की उत्पत्ति का भी वर्णन आन्ध्र की गाथा में मिलता है। लिंगो का नाम यहाँ की गाथा में पहाण्डी कुपर लिंगाल मिलता है।

वेरियर एल्विन ने लिंगो गाथा का संकलन अनेक स्थानों से

किया है। बस्तर की मुरिया जनजाति से उनके द्वारा संकलित गाथा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह मिलती है कि लिंगो ने ही घोटुल की स्थापना की। घोटुल मुरिया जनजाति का एक अत्यन्त आदिम प्रतिष्ठान है, जो किशोर गृह कहलाता है। प्राचीन समय में अनेक जनजातियों में ऐसे किशोर गृह विद्यमान थे। लिंगो ने ही मुरियों को संगीत के अठारह वाद्य प्रदान किये और उन्हें नृत्य करना सिखाया। लिंगो घोटुल के किशोर-किशोरियों की रक्षा करता है। 'जब तक घोटुल का अस्तित्व रहेगा, तब तक दुनिया का अस्तित्व कायम रहेगा।' मुरिया जनजाति एक घोटुल पाटा गीत में लिंगो के भाइयों, भाभियों, मामा तथा लिंगो के काका आदि के नाम भी मिलते हैं, जो सबके सब देवताओं के रूप में सम्मानित हैं और उनके आंगा अपने-अपने परगने के प्रतिष्ठित देवता हैं। लिंगोपेन की गाथाएँ का जो इतने विशाल भूभाग में प्रचलित है, उनका क्षेत्रवार अध्ययन एवं विश्लेषण करना यहाँ उचित होगा।

सर्वप्रथम यहाँ फादर हिस्लप द्वारा संकलित गाथा को ही अध्ययन हेतु लेते हैं। यह अध्ययन अन्य गाथाओं के लिए भी आधार रूप में सहायक होगा।

सप्त पर्वतों की घाटी में,
बारह पर्वतों के बीच स्थित हैं लिंगवनगढ़

इस गाथा के आरंभ में ही उस क्षेत्र का उल्लेख किया गया है, जिस क्षेत्र की यह गाथा है। सप्त पर्वतों की घाटी या वादी का उल्लेख सतपुड़ा पर्वत श्रंखला हेतु किया गया है। लिंगवनगढ़ क्षेत्र गोंड जनजाति का प्राचीन निवास स्थल है। विन्ध्याचल से गोदावरी नदी के तट तक गोंड जाति इस विशाल भूभाग में निवास करती थी, जिसे मुगलकाल में भी गोंडवाना के नाम से जाना जाता था। यहाँ लिंगवनगढ़ का उल्लेख गोंड प्रदेश के रूप में ही किया गया है। आगे इस गाथा में इस प्रदेश के सघन वनों और वीरानी का उल्लेख किया गया है। सतपुड़ा क्षेत्र की विरल जनसंख्या और सघन वन प्रदेश गाथा के आदि रचयिताओं की कल्पना की परिधि में अवश्य थे।

लिंगो की विभिन्न गाथाओं में देवताओं की संख्या का उल्लेख करते हुए 'देवखुला' शब्द के साथ उनकी संख्या का अनुमान लगाया गया है। जैसे अन्न के खलिहान में अन्न का

विशाल ढेर होता है, उसी प्रकार विशाल संख्या को दर्शाने हेतु ही देवखुला (देव खलिहान) शब्द का उल्लेख किया गया है। ब्राह्मणों के अठारह देवखुला अर्थात् अठारह खलिहानों में समाने योग्य देवता। सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना में सर्वप्रथम ब्राह्मण फिर तेलुगु देवताओं की उत्पत्ति की कल्पना की गई है। परन्तु वहाँ कोई भी गोंड देवता उपस्थित नहीं था। महादेव के 'बड़े पुत्र' 'कर्तो सुबाल' जो बड़ा देव-महादेव का पुत्र था, उनकी गोद में बैठे-बैठे उसने मनन किया.....' इस स्थान पर गाथा में महादेव और बड़ा देव को मिला दिया गया है। 'कर्तो सुबाल' और कोई देवता नहीं स्वयं 'कार्तिकेय' हैं। उन्हीं की तपस्या एवं उपवास के फलस्वरूप गोंड देवता उसकी बाईं भुजा में उठे हुए फोड़े के भीतर से उत्पन्न हुए। सोलह देवखुला गोंड देवता उत्पन्न हुए। वे फोड़े से उत्पन्न होकर संपूर्ण देश में फैल गये।

.....कोयतुर निकले, कोयतुर दल के दल,
उनकी संख्या सोलह देवखुला थी।
वे सब निकलकर संपूर्ण देश में फैल गये,
पर्वतों पर, और वादियों में
वनान्वल में, वे संपूर्ण देश में फैल गये
और संपूर्ण क्षेत्र उनसे आबाद हो गया,.....

यहाँ इस बात का उल्लेख किया गया है कि संपूर्ण क्षेत्र उनसे आबाद हो गया.....। इस बात से यह तथ्य तो प्रकट ही है कि इस प्रदेश में आरंभ होने वाली जाति गोंड ही थी।

इस गाथा में अनेक स्थलों पर हिन्दू प्रभाव होने का आरोप नृतत्वशास्त्रियों ने लगाया है। परधान जाति के लोग जिनकी उत्पत्ति गोंड जनजाति से ही हुई है, वे हिन्दुओं से सर्वाधिक प्रभावित हुए। परधान चूँकि गोंड जाति के चारण और उनके पुजारी थे और एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते थे। अतः उनका बाह्य हिन्दू संपर्क में आना स्वाभाविक ही था। मध्य युग में गोंड रजवाड़ों के उदय के साथ-साथ गोंड राजाओं में हिन्दुत्व की प्रवृत्ति का विकास हुआ। वे लोग अपने को गोंड राजपूत अथवा गोंड ठाकुर कहलाने में गौरव महसूस करते थे। इसलिये परधानों द्वारा गाई जाने वाली लिंगो गाथा में इस प्रकार की अभिव्यक्ति हिन्दुओं के आदिवासियों के प्रति दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप ही समाहित हुई होगी, ऐसा प्रतीत होता है -

वे सभी प्राणियों का संहार कर रहे थे
वे किसी भी प्राणी में भले बुरे का भेद नहीं कर रहे थे,
वे गिलहरियाँ खा रहे थे, वे सियारों को खा रहे थे,

वे किसी भी प्राणी में शुद्ध और अशुद्ध का भेद किये बिना
ही, शुद्ध का भी भक्षण कर रहे थे और अशुद्ध का भी, वे कच्चा या
पक्का, सड़ा-गला सभी कुछ का भक्षण कर रहे थे।

वे गिरगिट, मेंढक और गोबरैलों को खा रहे थे,
वे गाय और बछड़ों को खा रहे थे।

जनजातियों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं में मध्यकाल में जैसी
तिरस्कारपूर्ण भावना रही है, इसके परिणामस्वरूप ही इस गाथा में
परधानों द्वारा ऐसी बातों का समावेश किया गया है-

इसके पश्चात् एक दुर्गन्ध उठने लगी
जंगलों से और पर्वतों से
गोंडों की दुर्गंध जो इतनी तीव्र थी
कि वह फैलती हुई महादेव तक
धवलगिरि जा पहुँची।

महादेव ने कुपित होकर उन गोंड देवताओं को पर्वत की
कंदरा में बन्द कर दिया। इस गाथा में कोयतुरों को महादेव द्वारा,
जाति विशेष से बहिष्कृत, दुर्गन्ध फैलाने वाले आदि सम्बोधनों से
संबोधित किया गया है। जाहिर है कि इस प्रकार के सम्बोधनों का
प्रयोग गाथा में एक दृष्टिकोण के कारण हुआ प्रतीत होता है। ऐसे
अंश मूल प्राचीन गोंड गाथा के अंश कदापि नहीं हो सकते। मूल
गाथा का रूप कैसा रहा होगा, यह कहना तो फिलहाल इसलिए
संभव नहीं है कि उसके किसी पाठ की जानकारी अब तक
उपलब्ध नहीं है। वाचिक परम्परा में जो गाथा परधानों की स्मृति में
संचित है, उसमें वे अनेक परिवर्तन यथा समय करते रहे हैं। परन्तु
लिंगो गाथा की प्राचीनता निसन्देह है। गोंड देवताओं की उत्पत्ति
'जीववाद' से अनुप्राणित है। आगे चलकर इस गाथा में लिंगो के
जन्म का उल्लेख पहिन्डी पुष्प से बताया गया है। लिंगो की उत्पत्ति
पूर्णतः टोटेमिक है, जो गाथा की प्राचीनता को प्रतिपादित करती
है।

पार्वती को जब धवलगिरि पर गोंड नहीं दिखाई पड़े और
उन्हें उनकी गंध भी महसूस नहीं हुई, तो उनके मन में आशंका

उत्पन्न होती है कि कहीं महादेव ने तो उनके साथ कोई अनिष्ट
नहीं कर दिया। वे सोचने लगीं -

मेरे सारे गोंड कहाँ चले गये ?
बहुत दिनों से हमारे पर्वत पर शान्ति छाई हुई है,
जहाँ उनका कोलाहल गूँजा करता था;
कई दिनों से उनकी गंध का आभास नहीं हुआ,
गोंडों के तन से लुभावनी गंध उठा करती थी;
मधुर गंध वाले मेरे गोंड, वे सब कहाँ हैं ?

पार्वती चिन्तित हो उठी और उन्होंने छैः माह तक तपस्या
की। उनकी तपस्या से प्रभावित होकर देवताओं के राजा भगवन्ताल
(भगवान) ने अपने दूत नारायण को भेजकर पता लगाने को कहा
कि पार्वती इतनी दुःखी क्यों है। पार्वती ने तुरन्त ही अपने दुःख
का कारण बतलाया और भगवन्ताल ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे
उनके दुःख का निवारण करने का प्रयत्न करेंगे।

इसके उपरान्त गाथा में नाटकीय परिवर्तन होता है। लिंगो
की उत्पत्ति लिंगावनगढ़ पर्वत पर पहिन्डी पुष्प से होती है।
'भगवन्ताल ने पर्वत पर बादलों के रूप में आकर पहिन्डी फूल को
खोलकर उसकी पंखुड़ियों को फैलाया और उस पुष्प में से लिंगो
को बाहर निकाला।' लिंगो के जन्म के साथ ही पहिन्डी पुष्प से
केशर की वर्षा हुई। उसके पिता भगवान ने उसके आँसू पोंछे और
उसके समीप ही गूलर का वृक्ष उत्पन्न किया, जिससे झरने वाले
मधु से लिंगो की भूख शांत हुई। गाथा में लिंगो के दिव्य लक्षणों
का वर्णन इस प्रकार से किया गया है-

विशुद्ध जल में भी दाग हो सकते हैं
लिंगो बेदाग विशुद्ध था।
उसकी नाभी पर हीरा जड़ा हुआ था
उसके माथे पर टीके की आभा थी,
उसके तन से पवित्रता स्वरूप चन्दन की सुगंध आ रही थी,
लिंगो का सिर देव तुल्य था।

लिंगो अपने पूर्वज गोंड देवताओं की खोज में निकल पड़ा
और कचिकोपा की घाटी में लहुगुड़ा के लाल पर्वत पर जा पहुँचा।
कचिकोपा बालाघाट जिले में स्थित एक प्राचीन लौह अयस्क की
खदान है। गोंडो का विश्वास है कि उस खदान में उनके देवता

निवास करते हैं। संभवतः गोंड जनजाति ने आदिकाल में सर्वप्रथम इसी खदान से लौह अयस्क निकालना आरंभ किया होगा। यहाँ लोहे को गलाकर लोहे के औजार बनाने आरंभ किये होंगे। उसके उपरांत ही उनकी यह धारणा बनी कि बूढ़ा देव साज वृक्ष से लोहे में रहने चले गये। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग ने 1992 में कचिकोपा की प्राचीन लौह अयस्क खदान को खोज निकाला है।

कचिकोपा के वन में धुआँ उठता देखकर लिंगो को आभास हुआ कि वहाँ कुछ मनुष्य मौजूद हैं। ये वे चार गोंड थे, जो महादेव से बचकर धवलगिरि से भाग आये थे और सप्त पर्वतों की वादी में छिप गये थे। लिंगो ने उन्हें साथ लेकर जंगल की कटाई-सफाई की और उन्हें खेती करना सिखाया। तब वे गोंड लिंगो को महाबली लिंगो कहने लगे। लिंगो गोंड जाति के ऐसे पुरा नायक हैं, जिन्होंने गोंड जाति को अनेक कार्य सिखाये, उन्हें कृषि कर्म सिखाया, उन्हें बीज प्रदान किये, उन्हें अग्नि प्रदान की, उन्हें नृत्य के अठारह वाद्य प्रदान किये तथा उन्हें घोटुल संस्था प्रदान की। इस रूप में लिंगो की पुरानायक के रूप में तुलना विश्व की किसी भी जाति के महानतम पुरानायक के साथ की जा सकती है।

कृषि आरंभ करके लिंगो रिकाडगोवरी नामक भयानक राक्षस से अग्नि लेकर आता है। रिकाडगोवरी ने अपनी सातों लड़कियों के साथ विवाह करने का लिंगो से प्रस्ताव किया, परन्तु लिंगो ने उनका विवाह अपने उन चार गोंड भाइयों से करवा दिया। बड़े तीन भाइयों के साथ दो-दो राक्षस कन्याओं का और सबसे छोटे भाई का विवाह सबसे छोटी राक्षस कन्या के साथ। वे लिंगो के उपकार का बदला चुकाने के इरादे से वन में लाल वर्ण के हिरण का शिकार करके उसका कलेजा लिंगो के लिये लेने चले गये। पीछे से उन सातों राक्षस कन्याओं ने लिंगो पर आसक्त होकर उसके साथ जोर जबरदस्ती करनी चाही, परन्तु लिंगो पवित्र था, अतः उसने मूसल से उनकी पिटाई कर दी। जब उसके भाई वन से वापस आये तो उनकी स्त्रियों ने लिंगो के चरित्र पर झूठा दोषारोपण करते हुए बताया कि लिंगो ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया है।

इस पर लिंगो के भाइयों ने उसकी हत्या करने का निश्चय किया और तरह-तरह से उसको मारने का प्रयत्न किया। वे उससे

इतने अधिक क्रोधित थे कि वे उसका वध करके उसकी आँख निकालकर उनसे कंचे का खेल खेलना चाहते थे, जिससे कि उनकी स्त्रियाँ प्रसन्न हो उठें। परन्तु उनके सभी प्रयत्न निष्फल हुए। स्वर्ग में भगवन्ताल लिंगो का उसके भाइयों द्वारा वध हो जाने पर चिंतित हो उठे। उन्होंने अपने शरीर के मैल से कागासुर नामक पक्षी बनाया और उसमें प्राण फूँककर उसे आदेश दिया कि जाकर लिंगो का पता लगाये। उसके शव पर करतो सुबाल से अमृत का छिड़काव करवाके उसे पुनः जीवित किया।

इसके पश्चात् लिंगो ने अपने उन गोंड भाइयों का साथ छोड़कर शेष सोलह देवखुला गोंड देवताओं की खोज आरंभ की। उसे काले कुमैत साधू ने बताया कि उनके गोंड देवता महादेव के द्वारा पकड़कर धवलगिरि की कंदरा में बन्द कर दिये गये हैं। लिंगो ने उपवास और तपस्या करके महादेव को प्रसन्न किया। महादेव ने सोलह देवखुला गोंडो को मुक्त करने का आश्वासन इस शर्त पर दिया कि वह समुद्र तट से बिन्दो पक्षी के बच्चों को बलि चढ़ाने हेतु लेकर आये। समुद्र तट पर उसकी भेंट भवरंग सर्प से होती है जो बिंदो के बच्चों का भक्षण कर रहा था। लिंगो ने उस भयंकर सर्प को अपने बाणों से बीध दिया। इससे प्रसन्न होकर बिन्दो पक्षियों ने सहर्ष ही बच्चों को स्वयं ही धवलगिरि पहुँचाने हेतु सहमति दे दी। इसके उपरान्त महादेव को गोंड देवताओं को विवश होकर मुक्त करना ही पड़ा।

लिंगो धवलगिरि से अपने सोलह देवखुला गोंड देवताओं को लेकर चला। मार्ग में एक विशाल नदी को पार करने के लिये उन्होंने एक कछुवे से सहायता मांगी और उसकी पीठ पर सबको बैठाकर नदी पार करवाई। फिर उन्हें ले जाकर सप्त पर्वतों की वादी में बसाया। वहाँ जंगल साफ करके उन्हें कृषि कार्य सिखाया। उसने एक नगर बसाया और भू-लोक (नरभूमि)। वहाँ उसने एक हाट लगाई और इस प्रकार नरभूम समृद्ध हो गई।

फिर एक दिन लिंगो ने सब गोंड देवताओं के नामकरण किये, जिनके नाम से उनके वंश और जातियाँ बनी। एक सबसे वृद्ध व्यक्ति को जिसके सब बाल सफेद हो चुके थे, उसे बनाया परधान। उसे पुजारी और संदेश वाहक का कार्य सौंपा। फिर उस परधान के माध्यम से काचिकोपा संदेश भेजकर उनके विवाह

सम्बन्ध स्थापित करवाये। इसके उपरान्त उन्होंने गोंड देवताओं के नामकरण किये। उन्हें यह भी सिखाया कि पूजास्थल और वेदी की स्थापना किस प्रकार से करनी चाहिये। गोंडजनों को संपूर्ण शिक्षा देने के उपरान्त लिंगो अन्तर्ध्यान हो गये और देवताओं के लोक में महाप्रस्थान कर गये।

गाथाओं का विश्लेषण

वेरियर एल्विन द्वारा तुमसनार से संकलित लिंगो गाथा में लिंगो की उत्पत्ति नागिन से बताई गई है, जिसने सात बच्चों को जन्म दिया था और जिन सबकी एक ही नाल थी, जिससे वे सम्बद्ध थे। उन सपोलों की रोने की आवाज कनक रानी ने सुनी और उसने राजा को जगाकर कहा कि वहाँ कहीं बच्चों के रोने की आवाज आ रही है। जब वे उन बच्चों को ढूँढने लगे तो राजा को नागिन ने डँसने का प्रयास किया, परन्तु रानी ने उस नागिन से प्रार्थना की कि वह निःसंतान है, अतः वह उन बच्चों को उन्हें प्रदान कर दे। बच्चों को नागिन से प्राप्त करने के उपरान्त राजा और रानी ने उनके नाल को बाँस की खपच्ची से काट कर उन बच्चों को पृथक किया।

गाथा के इस अंश से लिंगो की उत्पत्ति जीववाद (एनिमिज्म) से बतलाई गई है। फादर हिस्लप द्वारा संकलित गाथा में भी लिंगो की उत्पत्ति जीववाद से ही बताई गई है, परन्तु वहाँ वह पहिन्डी के पुष्प से बताई गई है।

बच्चे जब बड़े होने लगे तो राजा ने उनका नामकरण किया। वे नाम थे- उसे मुदियाल, राजा मुदियाल, बूढ़ा मुदियाल, सोमा मुदियाल, काना हुर्रा मुदियाल, काना मुदियाल और लिंगो मुदियाल। वे अपने लिए पत्नियों की खोज में नदुम भूम (पाताल लोक) जाते हैं। उनकी पत्नियों के नाम इस गाथा में इस प्रकार आए हैं- भूमन्थार, धरकरदेवनी, मरदेवनी, थिओराजुंगे, महिपुर जुंगे और हल्यिन्दोकारी। बड़े छै भाइयों का विवाह उपरोक्त छहों कन्याओं से हो गया, परन्तु लिंगो अविवाहित रहा।

लिंगो का चरित्र अन्य भाइयों की तुलना में बिल्कुल अलग बताया गया है। उसे अलौकिक शक्तियों से पूर्ण बताया गया है। 'उसके केश बढ़ते-बढ़ते पहुँच गये थे पोरोभूम में, उसकी पूँछ

लटक रही थी नीचे नरभूम तक।' लिंगो को सभी गाथाओं में अविवाहित बताया गया है, जिनमें वह स्वयं विवाह न करके अपने बड़े भाइयों का विवाह सम्पन्न करवाता है। उसकी अलौकिक शक्ति का वर्णन करते हुए गाथा में आगे उल्लेख किया गया है -

वह एक ही समय में बजाता था
संगीत के अठारह वाद्य
वह घुटनों पर रखता था
पिटोकड़ा घड़ियाल को,
गुलागुडा मांदर को अपनी कटि पर
एक कंधे पर लटकती थी मांदरी,
दूसरे कंधे से लटकता था ढोल।
उसकी पीठ पर लटकती थी घंटियाँ,
उसके पैरों में बंधे थे पैजन,
उसके हाथ में थी सारंगी, डुसिर, धुमिर
उसके हाथों में थे तेहेन्दोर, मोहरी, जिकड़, चिटकुल, हाकुम,
उसके हाथों में परई, फुंडिर, चरखेवा, डंठार
उन सभी वाद्यों को बजाता था वह एक ही साथ,
उन सबमें था वशीकरण का जादू,
जो भी उनको सुनता था हो जाता था सम्मोहित
खिंचा चला आता था उसके पास,

लिंगो की संगीत प्रियता का उल्लेख दोनों ही गाथाओं में हुआ है। लिंगो ने गोंड जनजाति को संगीत के अठारह वाद्य दिये और नृत्य सिखाया।

लिंगो के छोटे भाइयों के चरित्र का वर्णन दोनों गाथाओं में एक सा मिलता है। हिस्लप वाली गाथा में लिंगो की भाभियाँ रिकाडगोवरी नामक दानव की पुत्रियाँ बताई गई हैं, परन्तु इस गाथा में वे पाताल लोक से लाई गई थी, ऐसा वर्णन मिलता है। परन्तु दोनों ही गाथाओं में उनका चरित्र एक समान बताया गया है, जिनमें वे अपने पतियों की अनुपस्थिति में लिंगो को रिझाने की चेष्टा करती हैं और लिंगो द्वारा उनके प्रति उदासीनता दिखाये जाने पर अपने पतियों से उसके चरित्र पर लंछन लगाते हुए उसके द्वारा दुर्व्यवहार किये जाने की झूठी शिकायत करती हैं। लिंगो उन स्त्रियों के प्रति उदासीन रहता था और चेलिक और मोटियारिनों के साथ

अठारह वाद्य बजाते हुए नृत्य में मग्न रहता था। उसके भाई उसके चरित्र पर शंका करते हुए उसका वध करने की योजना बनाते हैं। वे सोचते हैं कि 'वैसे तो यह चरित्रवान बनता है और पीछे से हमारी स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करता है। यह विश्वासघाती है। अनेक प्रकार से वे लिंगो की हत्या का प्रयास करते हैं, परन्तु लिंगो हमेशा बच निकलता है। जब-जब भी उसकी अंत्येष्टि हेतु अकोमामा और अन्य रिश्तेदारों को बुलाते हैं तो लिंगो अपने संगीत के वाद्य बजाता हुआ वहाँ प्रकट हो जाता है। यहाँ तक कि एक बार उन्होंने लिंगो को तेल के कढ़ाव में रखकर ऊपर से ढक्कन बन्द कर दिया और नीचे से आग सुलगा दी। लिंगो उसमें भी जीवित बच निकला। तब उसके भाई भयभीत हो उठे और उन्हें डर लगा कि अब लिंगो उन्हें जिन्दा नहीं छोड़ेगा।

लिंगो ने तब अपने बड़े भाई 'उसे मुदियाल' को बुलाकर कहा- 'मुझसे डरने की आवश्यकता नहीं।' उसे मुदियाल ने पूछा- 'यह संसार कैसे चलेगा, तुम्हारा संगीत सुनकर सब लोग सारा काम-धंधा छोड़कर खड़े हो जाते हैं।' तब लिंगो ने अपने सब वाद्य चेलिक और मोटियारियों को दे दिये और घोटुल का निर्माण किया। चेलिक और मोटियारिनें घोटुल के भीतर ही नृत्य करते

और वाद्य बजाते थे, जिसकी ध्वनि बाहर नहीं सुनाई पड़ती थी। फिर लिंगो ने कहा- 'इस प्रकार दुनिया का अस्तित्व तब तक बना रहेगा, जब तक घोटुल अस्तित्व में रहेंगे।'

लिंगो के सब भाई डरकर जंगल में भाग गये। केवल उसे मुदियाल उसके पास रह गया और उसके साथ खेतों में काम करने लगा। अन्त में लिंगो केसरबेड़ा चला गया, जहाँ उसका विवाह हो गया। उसके सात विवाह हुए, परन्तु उनमें से एक भी सफल नहीं हुआ। उसके सातों विवाह ब्राह्मण कन्याओं से हुए। उसकी पहली पत्नि टोनही (चुड़ैल) थी। दूसरी पत्नी डायन निकली। तीसरी पत्नी जादूगरनी थी। चौथी पत्नी झगड़ालू थी, जिसे लिंगो ने घर से निकाल दिया। पाँचवी पत्नी भी टोनही थी। छठवीं के विषय में गाथा गायक को कुछ याद नहीं रहा था। सातवीं पत्नी को हेवेहटुन्डा क्षत्री भगाकर ले गया। उससे लिंगो को एक पुत्र हुआ, जिसका नाम नेतुरगुंडी था। उससे अपनी सातवीं पत्नी का पीछा किया और उसकी हत्या करके उसके शव के सात टुकड़े कर डाले। इस प्रकार से लिंगो का संपूर्ण जीवन संघर्ष, दुःख और असफलताओं से परिपूर्ण रहा। अन्त में लिंगो सेमुर गाँव चला गया, जहाँ वह एक पर्वत पर आज भी निवास करता है।

लोकगाथा और इतिहास

विजय वर्मा

इतिहास का उद्देश्य और कार्यक्षेत्र, जो भी अब तक घट चुका है- उसके अन्वेषण, उद्घाटन और विश्लेषण से संबंध रखता है। इतिहासकार का धर्म है, यथासंभव सारे उपलब्ध साक्ष्यों की मदद से सत्य का अन्वेषण और उसका बेलाग-निष्पक्ष निरूपण। इतिहासकार के औजारों और स्वयं उसमें कमियां हो सकती हैं, लेकिन एक अनुशासन और आयोजन के रूप में इतिहास के लक्ष्य और धर्म स्पष्ट हैं। दूसरी ओर लोकगाथाओं से संबंधित काल में जीवन, व्यक्तित्वों और घटनाओं की छवियाँ तो उभरती हैं, लेकिन उनका मूल चरित्र, आकांक्षा और उपलब्धि, तटस्थ वैज्ञानिक अन्वेषण और विश्लेषणजनित नीरस ब्यौरे नहीं, कल्पना और संवेदना की उड़ान और ऊष्मा से युक्त रंजक अभिव्यक्तियाँ हैं। हालांकि परिस्थिति, विधा और सर्जक - जो चक्की पीसती अशिक्षित महिला से लगाकर समर्थ निपुण कवि तक, कोई भी हो सकता है, इन अभिव्यक्तियों के चरित्र और स्वरूप को प्रभावित कर सकते हैं। ऐसे में प्रश्न उठता है, क्या लोकगाथाओं में इतिहास के तत्त्व मिलते हैं और क्या उनका अध्ययन इतिहास के अध्ययन में मददगार हो सकता है? या फिर, क्या लोक के अपने समानान्तर इतिहास अथवा इतिहास के स्थानापन्न विकल्प की कल्पना सही है?

इस विषय की पड़ताल, विशेषतः लोकगाथा के संदर्भ में, यहाँ हम पश्चिमी राजस्थान, गुजरात और सिंध की कुछ ऐसी लोकगाथाओं के परिप्रेक्ष्य में करेंगे, जिनके कथानायकों का न्यूनाधिक वजूद इतिहास में भी मिलता है। जाहिर है कि यह एक सीमित बानगी मात्र है और हो सकता है कि उसकी पड़ताल से प्राप्त निष्कर्ष, अंतिम या एकमात्र सत्य का दर्जा न रखते हों। लेकिन फिर भी, शायद वे अन्यान्य लोकगाथाओं के ऐसे ही अध्ययन के आधार पर ऐसे ही परीक्षणों की आवश्यकता को भी रेखांकित करने वाले हों।

रा खेंगार लाखा फूलाणी

स्व. कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी द्वारा अपने ग्रंथ 'ग्लोरी देट वाज गुर्जर देश' में दिए गए विवरण के अनुसार 1114 ई. में अनहिलवाड़ पाटन के चौलुक्य या सोलंकी शासक जयसिंह सिद्धराज ने गिरनार, सौराष्ट्र के आमीर वंशीय शासक खेंगार पर आक्रमण करके उसे बंदी बना लिया और सौराष्ट्र को अपने राज्य में मिला लिया। दोनों वंशों में पुरानी दुश्मनी थी। सिद्धराज के पूर्वज मूलराज ने ग्राहरिपु को युद्ध में हराया था।

फोर्ब्स कृत गुजरात के इतिहास और संस्कृति विषयक पुस्तक 'रासमाला' (1856) में पुस्तक के संपादक रॉलिनसन की पाद टिप्पणी सूचित करती है कि चूड़ासमा वंशीय ग्राहरिपु वंशज था रा खेंगार प्रथम, जिसका पुत्र था रा नवघन जो 1067 ई. में गद्दी पर बैठा। जिन कथाओं आदि का जिक्र हम करने जा रहे हैं, उनमें से कुछ का कथानायक रा खेंगार (शासनकाल 1098-1125 ई.) इसी नवघन का उत्तराधिकारी था (जिल्द 1 अध्याय 9)। खेंगार के शासन की समाप्ति/ मृत्यु का वर्ष ई. 1114 या 1115 होना भी कहा गया है।

सौराष्ट्र के खेंगार की तरह कच्छ के प्रसिद्ध लाखा फूलाणी का भी इतिहास में उल्लेख मिलता है, हालांकि उसके काल-निर्धारण में कुछ कठिनाई रही है।

अतः खेंगार और लाखा दोनों ऐतिहासिक पात्र हैं। इन दोनों के गिर्द लोक ने बहुत सी कल्पनाएँ, कथाएँ और गीत बुन लिए हैं जो सिंध, गुजरात और राजस्थान विशेषतः दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान, तीनों में कुछ हेर-फेर के साथ प्रचलित रहे हैं। यह तथ्य एक और सांस्कृतिक दृष्टि से, ये तीनों भू-भाग एक अविच्छिन्न इकाई बनाते आए हैं। उदाहरण के लिए जहाँ तक सिंध का संबंध है- स्व. कोमल कोठारी ने लिखा था- 'अनायास मेरा विशिष्ट अध्ययन क्षेत्र पश्चिमी राजस्थान हो गया और यह असंभव बन गया कि सिंधी भाषा को, सिंधी जन-समाज को, सिंधी लोक संस्कृति को, सिंधी लोकसंगीत को किसी भी रूप में छोड़कर निकल सकूँ' (डॉ. किशनी फुलवानी खेमानी कृत 'भारत के सिंधी गेय प्रेमाख्यान' अजमेर, 2003, भूमिका)।

जगदेव परमार

रा खेंगार संबंधी कुछ कथाओं, गीतों आदि पर दानवीर जगदेव परमार संबंधी जनश्रुतियों का परछावां बहुत स्पष्ट है। खेंगार और लाखा फूलाणी की तरह जगदेव परमार भी यदि एक ओर लोकवाङ्मय का चहेता है तो दूसरी ओर इतिहास भी उसके वजूद और कारगुजारियों की गवाही देता है। उस दृष्टि से भी जगदेव की कुछ चर्चा यहाँ प्रासंगिक होगी।

फोर्ब्स की 'रासमाला' में जनश्रुतियों के गुजराती पक्ष का एक संस्करण मिलता है। धार-मालवा के राजा उदयादित्य का छोटा पुत्र जगदेव, विमाता के अनाचार से त्रस्त होकर पाटण गुजरात के सिद्धराज जयसिंह की सेवा में चला जाता है। वहाँ वह अपने, अपनी पत्नी और दोनों पुत्रों के प्राणों के उत्सर्ग पर आमदा होकर जयसिंह की आसन्न मृत्यु को टलवाता रहा और उसके लिये जोगणियों से 12 वर्ष प्रति उत्सर्ग हेतु जीवन की दर से, राज्यसुख में 48 वर्ष की बढोत्तरी का वरदान प्राप्त करता है। इसके बाद कथा लाखा फूलाणी को भी अपने वृत्त में ले लेती है, जयसिंह और जगदेव, लाखा की क्रमशः बड़ी और छोटी कन्याओं से विवाह करते हैं।

इसके बाद जगदेव, जयसिंह की जाड़ेची रानी को आक्रांत करने वाले भैरू को उसके किए का मजा चखाता है। (लोक देवता रामदेव जी के साथ भी दुष्ट भैरू को मारकर पोकरण नगर दुबारा बसाने की कथा जुड़ी हुई है।) इस पर चामुण्डा कंकाली-भाटिन बनकर जयसिंह के दरबार में दशनार्थ उपस्थित होती हैं। वहाँ जगदेव को देखकर वह अपना उघड़ा माथा ढंक लेती हैं। उससे जगदेव की वीरता और दानशीलता का यशगान सुनकर क्रोधित जयसिंह कहता है- 'तू मेरे इस चाकर की बड़ाई करती है! जा, जो यह देगा उससे चौगुना मैं दूंगा।' इस पर जयदेव, अपना शीश दान कर देता है और चामुण्डा जयसिंह से चार सिरों की मांग करती है। जयसिंह को लज्जित होना पड़ता है। जगदेव धार लौट आता है और 52 वर्ष तक वहाँ राज करके स्वर्ग सिधारता है।

इस कथा का लगभग अविक्ल राजस्थानी संस्करण स्व. डॉ. मनोहर शर्मा और श्रीलाल नथमल जोशी अपने 'राजस्थानी बात-संग्रह' (साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1984) में प्रस्तुत

करते हैं, लेकिन चिड़ावा के नानू राणा रचित ख्याल-लोकनाट्य 'जगदेव-कंकाली' में जयसिंह जयचंद बन जाता है और पाटण कन्नौज। कथा, आश्रयदाता के राज्यसुख में इजाफा करवाने का प्रसंग छोड़कर सीधे कालू के उत्पात पर आ जाती है। खिसियाए जयचंद द्वारा गोबर की धारा नगरी बनाकर उसका भंजन करने की योजना को जगदेव द्वारा विफल करने का प्रसंग जोड़ दिया गया है। लोक, इतिहास से बंधता नहीं, उसमें से जो चरित्र या घटनाएँ उसे जंच जाती हैं- उनका आलंबन मात्र लेकर मनचाहे, जगभाते कथानक उनके गिर्द बुन लेता है- बिना भूगोल, संभाव्यता आदि के पहलुओं से सीमित या बाधित हुए।

अब, यह ऐतिहासिक जगदेव आखिर था कौन? उसकी व्यापक लोकविश्रुति को देखते हुए शायद अपेक्षा से कम साक्ष्य उपलब्ध हैं उसके बारे में। लेकिन, दूसरी ओर शायद हम खेंगार और लाखा फूलाणी की तुलना में उसके बारे में ज्यादा जानते हैं। साक्ष्यों को छानने-फटकने का यह काम स्व. डॉ. दशरथ शर्मा बखूबी कर गए हैं। (त्रिविधवीर जगद्देव परमार' मूलतः 'राजस्थान भारती' बीकानेर, अंक 44 में प्रकाशित और बाद में 1977 में हिन्दी विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, बीकानेर द्वारा प्रकाशित 'डॉ. दशरथ शर्मा लेख संग्रह' में संकलित।) डॉ. शर्मा के अनुसार- संभव है सिद्धराज व जगदेव समकालीन रहे हों और जगदेव कुछ समय तक गुजरात में ठहरा हो, लेकिन बाद में दोनों के बीच वैमनस्य हो गया हो, किन्तु बाकी सब कपोल-कल्पना मात्र है।... उदयादित्य के बाद राजा बने अपने बड़े भाई लक्ष्मणदेव की मृत्यु के बाद जगदेव ने धार छोड़ा। कुछ दिन गुजरात में रहा, लेकिन फिर दक्खन में कल्याणी के चालुक्यवंशी विक्रमादित्य छठे की सेवा में रहा और याचकों पर स्वर्ण मुद्राओं और शत्रुओं पर बाणों की वर्षा करता रहा।... विक्रमादित्य के दरबार में निर्वसन नृत्य करती वेश्या ने 'जगत के एकमात्र पुरुष' जगदेव को वहाँ आया देखकर चादर ओढ़ ली और फिर विवस्र होकर नृत्य जारी रखने से इंकार कर दिया। शायद यहीं से उपजी हो कंकाली द्वारा माथा ढँक लेने की बात।... बाद में मालवा पर विपत्ति पड़ने पर जगदेव कुछ समय के लिए वहाँ आया हो, किन्तु उसने वहाँ कभी राज्य नहीं किया।... इतिहास का जगद्देव दानवीर ही नहीं, त्रिविधवीर है- दान, शौर्य और धर्मनिष्ठा तीनों में अद्वितीय।

रा खेंगार- सोरठ : कथा का सिंधी संस्कार

सिंध में प्रचलित सोरठ -राइ डियाच (राव खेंगार) आख्यान, जिसे राजस्थान में भी गीत के रूप में गाया जाता है। बीजल चारण को कंकाली -भाटिन की भूमिका देकर रा खेंगार को शीशदानी जगदेव परमार की भूमिका में प्रस्तुत करता है। (यहाँ चारण से तात्पर्य किसी कामायचा या सुरिन्दा बजाने वाले याचक गायक-वादक से है)। इसमें गुजरात का राजा अनीराव, सिद्धराज जयसिंह की भूमिका में है और उसके तथा खेंगार के बीच झगड़े का कारण सोरठ है। सिंध के महान सूफी संत शाह अब्दुल लतीफ (1689-1752 ई.) ने इस कथा को अपने 'रिसालो' में सम्मिलित 'सुर सोरठ' में एक आध्यात्मिक रूपक की शकल दे दी है। बीजल प्रतीक है कामिल मुर्शिद का, वह अपने साज पर जो संगीत प्रस्तुत करता है वह मुक्तिप्रदाता अनहद नाद है, खेंगार वह मुरीद है जो इस मुर्शिद के आगे नतमस्तक है और सोरठ वह नप्स (विषय-विकार) है, जिसके भरण में तालिब, साधक का कल्याण निहित है। सिंध में प्रचलित राइ डियाच के किस्से में बीजल, खेंगार का भतीजा है, जिसके बारे में दरवेश यह भविष्यवाणी कर चुका है- वह अपने मामा के मरण का कारण बनेगा। इसके चलते बीजल का परित्याग कर दिया जाता है और उसे अनीराव के राज्य में एक चारण पाल- पोसकर बड़ा करता है। दूसरी ओर सोरठ, बीजल की समवस्यक, अनीराव की परित्यक्ता पुत्री है, जिसे खेंगार के राज्य में रतन कुम्हार पालता है। सोरठ के युवा होने पर, वास्तविकता से अनजान, अनीराव उसका आकांक्षी होता है, लेकिन सोरठ को खेंगार ब्याह लेता है। युद्ध में असफल रहने पर क्रोधित अनीराव, बीजल को खेंगार का सिर लाने के लिए भेजता है। अपने सुरिन्दा वादन से खेंगार को मोहित कर उसका सिर दान में लेकर बीजल लौटता है तो अनीराव उसको धिक्कारता है। सोरठ खेंगार के शव के साथ चिता पर चढ़ी तो पश्चाताप करता बीजल भी उसके साथ ही जल मरा (दृष्टव्यः 'शाह जो रसालो', सक्षिप्त संस्करण 2006, क.बू. आडवाणी एवं ल.प. हर्दवाणी, श्री अमरापुर जनकल्याण ट्रस्ट, जयपुर।)

यहाँ 'सोरठ' द्योतक है सौराष्ट्र की महिला का। सोरठ सौराष्ट्र की राग देस से मिलती-जुलती प्रसिद्ध रागिनी का भी नाम था। 'रिसालो' में सोरठ या सोरठी से संबंधित अध्याय का 'सुर

सोरठ' कहा जाना, शायद सम्बंधित गाथा के मुख्यतः इस राग में गायन का भी द्योतक है। पश्चिमी राजस्थान के लोकगायक मांगणियार -लंगे भी वहाँ प्रचलित सोरठ सम्बंधी गेय प्रेमाख्यान का गायन इसी राग में करते हैं-

सोरठ संकल देस (सिंध) की जाति बड़ी परमार,
बेटी राजा भोज की, पाली रतन कुम्हार।
मंग (वाग्दत्ता) अनीराव की सो परण्यो राव खेंगार,
राव खेंगार दातार, राव खेंगार जुझार।

विस्तार के लिए किशानी फुलवाणी की पूर्व में उल्लिखित पुस्तक देखी जा सकती है।

रा खेंगार -सोरठ : गुजराती संस्करण

अब चलें गुजरात। 'रासमाला' में फोर्ब्स ने रा खेंगार-सोरठ-कथा के दो काफी मिलते-जुलते संस्करण दिए हैं। दोनों में सोरठ, राणक देवी कहलाई है, हालांकि दूसरे संस्करण में एक स्थान पर उसे 'सोरठनी' भी कह दिया गया है। पहले विवरण में रा खेंगार स्वयं सिद्धराज जयसिंह की वाग्दत्ता, कालरी के देवड़ा राजपूत की कन्या राणक देवी का अपहरण कर लेता है। इस पर सिद्धराज जूनागढ़ पर आक्रमण करता है और अंततः खेंगार के भांजों- देहुल और वीहुल, जो खेंगार से अप्रसन्न हैं- के विश्वासघात के फलस्वरूप गढ़ जीतने और खेंगार को मारने में सफल होता है, हालांकि राणक देवी वाधवान में खेंगार के शव के साथ जल मरती है और दगाबाज भांजे भी राज्य पाने की बजाय सिद्धराज के हाथों सजा पाते हैं।

दूसरे ज्यादा विस्तार से दिए विवरण में राणक देवी, मूल नक्षत्रों में पैदा होने के कारण सिंध के एक भू-भाग के राजा रोड़ पंवार की परित्यक्ता बेटी है, जिसका लालन-पालन हड़मतियों कुम्हार करता है। लाखा फूलाणी के राणक का आकांक्षी होने पर हड़मतिये सपरिवार कच्छ छोड़कर सौराष्ट्र में जा बसता है। (ऐतिहासिक दृष्टि से यह असंभाव्य लगता है क्योंकि जैसा हम देखेंगे, लाखा फूलाणी जयसिंह के बाद 14 वीं शताब्दी में हुआ था) इसके बाद राणक की सगाई सिद्धराज (शासनकाल 1094-1143 ई.) से हो जाती है, लेकिन राव खेंगार के भांजे उसे राव खेंगार से विवाह हेतु ले जाते हैं। सिद्धराज जूनागढ़ को घेर लेता

है। उधर खेंगार देहुल और राणक के संबंधों को लेकर शंकालु हो जाता है। देश निकाला पाकर दोनों भाई छल से सिद्धराज को जूनागढ़ में घुसा लाते हैं। शेष कथा पहले विवरण जैसी है। सिद्धराज, राणक की इच्छानुसार वाधवान में उसके दाहस्थल पर एक मंदिर बनवाता है।

कथा-गीत का यह दूसरा रूप एक तुरी भाट से सुना गया था और यह रूप स्व. झवेरचंद जी मेघाणी के संकलन 'सोरठी गीतकथाओं' में भी 'राणक-रा खेंगार' शीर्षक के साथ उपलब्ध है। यहाँ मेघाणी जी यह सूचना जोड़ते हैं कि राजा रोड़ सिंध (कच्छ?) के केराकोट में राज्य करता था। कथा-गीत खेंगार के शंकालु होने का कारण भी बताता है। खेंगार की अच्छी मदिरा लेकर देशळ (देहुल) अंतःपुर में जाता है, वहाँ मतिहीन होकर मामी-भांजा मदिरा के प्रभाव से हिंडोले में सो जाते हैं और खेंगार उन्हें इस हाल में देख लेता है। लेकिन कुल मिलाकर कथा देहुल के निष्पाप और राणक के पतिव्रता होने की साख भरती है।

लेकिन मेघाणी जी ही 'रढ़ियाळी रात में' संकलित गीत 'राणकदेवड़ी', में भांजी जळहळ (जेसळ) का स्पष्ट रूप से मामी के समक्ष अपप्रस्ताव करता है और नतीजे में मामी द्वारा झिड़का जाता है तथा इससे उपजे क्रोध में वह मामा खेंगार की हत्या करता दिखता है। यह गीत अपनी सादगी, वाक्यांशों के दोहराव आदि के साथ महिलाओं की रचना लगता है, जबकि ऊपर वर्णित भाट रचित गाथा-गीत अपनी रचना कौशल, उपमादि अलंकारों के प्राचुर्य के साथ बिल्कुल अलग दिखता है। (किसी को इन दो प्रकारों के बीच का अंतर समझना हो तो वह इस युग का तुलनात्मक अध्ययन करे) हो सकता है कि देसळ या देहुल को अतिरिक्त कलुषमय दिखाने के पीछे महिलाओं की राणक के प्रति स्वाभाविक अतिरिक्त सहानुभूति, उसमें अतिरिक्त अनुरक्ति हो। वाधवान में तथाकथित राणकदेवी का मंदिर जो 1115 ई. में खेंगार की जयसिंह के हाथों मृत्यु से लगभग 200 वर्ष पूर्व का है, में राणकदेवी पूजित रही हैं, गुजरात के भवाई 'वेश' 'सघरा जेसंग' में भी राणक का तेजोमय, पतिव्रता रूप प्रदर्शित है। राजस्थान में माता राणकदे या राणदे (सूर्य की पत्नी) से निपूति की गुहार का गीत मिलता है-

'लीप्यो तो पूप्यों ऐ माता आंगणो

पगल्या रो पूरण वालो नहीं एक माता राणकदे
म्हाने माणस क्यांने सिरज्या'

दूसरी ओर 'रुढ़ियाली रात' में संबंधित गीत के साथ मेघाणी जी की टिप्पणी है कि इतिहास के हिसाब से तो भांजा राज्य के लोभ में सिद्धराज जयसिंह की सेना को गिरनार पर चढ़ा लाया था और राव का मरण भांजे के नहीं, सिद्धराज के हाथों हुआ था।

अस्तु, यह खेंगार-राणक यों सोरठ सम्बंधी कथाओं, गीतों में, मामा-मामी -भांजे संबंधी रूढ़ि का जो थोड़े हेर-फेर के साथ निरंतर पगफेरा है, उसको ठीक से समझने के लिए राजस्थान में प्रचलित सोरठ संबंधी कुछ कथाओं को भी गुमान में ले आना जरूरी है। लेकिन उनकी चर्चा से पहले, जिक्र 'जलालबूबना' का, जिसे शायद इस रूढ़ि संबंधी प्रतिनिधि आख्यान माना जा सकता है।

जलाल-बूबना : कथा-रूढ़ि

सिंध का एक शासक अपनी बहुत सुंदर और गुणवंती छोटी बेटी बूबना के विवाह का प्रस्ताव सिंह के थटाभाखर के बादशाह के भांजे जलाल के वास्ते भेजता है, लेकिन वह बूढ़ा स्त्रीलोलुप बादशाह खुद बूबना से विवाह कर लेता है, जबकि बूबना की बड़ी बहन जलाल के पांती आती है। इसके बाद वही होता है जिसकी अपेक्षा की जा सकती है। जलाल-बूबना एक दूसरे के लिए ही बने थे और उनका नेह सच्चा था, सारी रोक-टोक के बावजूद वे मिलते हैं। अंत में, जलाल के मरण की झूठी खबर फैलाई जाती है, उसे सुनकर बूबना प्राण त्याग देती है और यह जानकर जलाल भी देह छोड़ देता है। दोनों को एक ही कब्र में दफनाया जाता है। कहते हैं कि राजस्थान का प्रसिद्ध लोकगीत 'जला-जलाजी में राज रा डेरा निरखण आई रे जला'- इसी कथानक से सम्बन्ध रखता है।

संबंधित कथा रूढ़ि और सोरठ प्रसंग

मामी-भांजे की रूढ़ि का सोरठ की कथा से गुंथाव का एक रूप हमें रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत द्वारा पुनर्कथित राजस्थानी लोककथा 'सोरठ' (मांझल रात, साहित्य संस्थान, उदयपुर, 1957) में मिलता है। यहाँ सोरठ सांचोर के राजा रायचंद द्वारा त्यागी जाकर चांपा कुम्हार द्वारा पालित है। राव खेंगार और उसका भांजा

बींझा शिकार खेलने उधर आते हैं तो बींझा सोरठ को देखकर उस पर मोहित हो जाता है। बींझा सोरठ को खरीदने और खेंगार उसके साथ विवाह करने का प्रस्ताव करते हैं, लेकिन चांपा नहीं मानता। मामा-भांजा लौट गये, तब चांपा ने सोरठ का विवाह रूड़ बंजारे से कर दिया। बंजारे की बालद घूमती-फिरती गिरनार पहुँची तो बींझा ने फिर सोरठ को देखा और सोरठ भी बींझा के स्नेहपाश में बंधा गई। बींझा की सलाह पर खेंगार ने चौपड़ के खेल में रूड़ को हराकर सोरठ सहित बंजारे का सब कुछ हर लिया और बींझा की मर्जी के खिलाफ सोरठ को अपनी अंकशायिनी बना लिया। कुछ समय बाद खेंगार किसी मुहिम पर गया, तो ईश्वर को साक्षी कर मन का गठजोड़ा कर दोनों प्रेमी एक दूसरे के हो गए। एक दिन अचानक खेंगार लौटा तो उसने दोनों को साथ निद्रामग्न देखा। पहले तो दोनों को मारने पर उद्यत हुआ, फिर यह सोच कर भेद खुलने पर उसकी ही बदनामी होगी, कटार को सिरहाने लगे लकड़ी के खम्भे में रोपकर लौट गया। दोनों प्रेमी फिर भी बाज नहीं आए तो खेंगार ने बींझा को देश निकाला दे दिया। बींझा एक नवाब को लालच देकर गिरनार पर चढ़ा लाया। नवाब जीत गया लेकिन सोरठ फिर भी बींझा को नहीं मिली। निराश बींझा ने प्राण त्याग दिए। उधर सोरठ जब किसी तरह नवाब के हत्थे नहीं चढ़ी तो नवाब ने उसे उसके चाहे अनुसार बींझा के दाहस्थल पर भेज दिया और सोरठ भी वहीं जल मरी।

यहाँ सिद्धराज जयसिंह पटल से पूरी तरह गायब है। 'एक नवाब' कुछ हद तक उसकी भूमिका में है, लेकिन पूर्व में हो चुकी सगाई वाली पीठिका नहीं है। भूगोल और इतिहास दोनों से कथा पूरी तरह निरपेक्ष है।

इस कथा का दूसरा संस्करण श्री शक्तिदान कविया द्वारा पुनर्कथित 'सोरठ-वींझें री वारता' (लाखीणी, थलवट प्रकाशन, बिराई, जोधपुर, 1964) मिलता है। इसमें भी सोरठ मूल नक्षत्र में सांचोर के राजा रायचंद देवड़ा के यहाँ जन्मती है, लेकिन यहाँ वह नदी में बहाई न जाकर, चोरी-छिपे, निपूते चांपा कुम्हार के यहाँ छुड़वा दी जाती है। यहाँ बड़ी होने पर, सिद्धराज जयसिंह और राव खेंगार दोनों उसके आकांक्षी होते हैं, लेकिन चांपा उसका विवाह रोड़ बंजारे से करता है। रोड़ गिरनार जाता है तो बींझा सोरठ को देखकर उस पर मोहित होता है। फिर वही चौपड़, रोड़ की हार, खेंगार का सोरठ को रख लेना आदि है। खेंगार द्वारका

गया तो सोरठ ने बींझा को देखा और वही बींझा से प्रेम करने लगी। दूहा-गाहा करते दोनों का मिलन हुआ। खेंगार लौटा, चर्चाएँ सुनी, पर बात को बढ़ाया नहीं। यह संस्करण सोरठ के प्रति कुछ कम सदय है : सोरठ 'त्रिया चरित्र' दिखाकर फिर खेंगार की अनुपस्थिति सुनिश्चित करती है। इस बार खेंगार लौटता है तो बात सामने उजागर पड़ी पाता है, लेकिन कुछ सोचकर खुद संभाल लेता है-

*वींझौ घर रौ भाणजौ, सोरठ घर री नार।
जांघ उघाड्यां आपरी, बुरौ कहै संसार।।*

यहाँ एक नवाब की भूमिका में पाटण का 'मुगल पातसाह' है। सिद्धराज का स्मरण अब कथाकार को नहीं है। खेंगार के युद्ध में काम आने पर पातसाह सोरठ को अपने हरम में डाल लेता है और बींझा को मरवा देता है। बाद में सोरठ भी बींझा के दाह स्थल पर जल मरती है।

*थे कहता म्हे ऊठस्यां, सोरठ आयां बार।
देखां थे किम ऊठस्यां आहिज ऊठण बार।।*

विवेचन और निष्कर्ष

यदि इन सब कथाओं-गीतों आदि को साथ रखकर देखें तो लोकगाथा का इतिहास से सम्बन्ध, इस विषय पर ही नहीं, स्वयं लोकगाथाओं के जन्म, संरचण और उनकी रूढ़ियों की अंतःक्रिया और अंतर्गुथाव पर बहुत रोचक और ज्ञानप्रद प्रकाश पड़ता है। सिंध के आख्यान में बीजल (इस नाम के बींझा से साम्य पर ध्यान दें) चारण, खेंगार का भांजा तो है, उसके लेकिन जोर दान में सिर मांगने और महादानी खेंगार के वह परमदान देने पर है। यह सिंध की याचक-गायक जातियों की परम्परा की चीज है और शायद जगदेव के आख्यान से प्रभावित संस्करण है। राजस्थान के दक्षिण-पश्चिम में याचक गायक जातियों द्वारा गाया जाने वाला गीत इस परम्परा का फैलाव और 'रिसालो' का सम्बन्धित अंश इसी का एक आनुषंगिक, उद्देश्य विशेष से किया गया उपयोग है। यहाँ मुरीद का स्थान भले ही खेंगार ने ले लिया हो और सोरठ भले ही मुरीद के रूहानी आरोहण के मार्ग की बाधा बना दी गई हो, वह फिर भी शाह लतीफ की सात नायिकाओं 'सूरमियुनियों' में से एक है।

दूसरी ओर राजस्थान में सोरठ खेंगार कथा के जिन दो अन्य संस्करणों की चर्चा हम कर आये हैं, उन पर जलाल-बूबना कथा का प्रभाव या उनका उससे काफी साम्य स्पष्ट है। जलाल-बूबना की कथा की मूल रूढ़ि दुर्भाग्यवश मामी-भांजा बने प्रेमियों का अपवित्र लगता, किंतु वस्तुतः पवित्र प्रेम है। इसके प्रभाव के अन्तर्गत बींझा नायक, सोरठ नायिका और खेंगार प्रतिनायक है। हालांकि, जैसा हमने देखा, एक कथा में सोरठ का चरित्र थोड़ा मलिन भी हो जाता है। लेकिन गुजराज में राणकदेवी का चरित्र दूसरे ही रूप में प्रकाशमान है। वह (पुरानी मान्यताओं, कुप्रथाओं के अनुसार) सती-रानी के रूप में सम्मानित है। भांजे या भांजों की भूमिका यहाँ भी महत्वपूर्ण है- 'रदियालीरात' वाले गीत में जळहळ नाम जलाल से साम्य रखता है, लेकिन या तो मामी-भांजे का रिश्ता निष्कलुष और खेंगार का संदेह निराधार है या फिर भांजे की नीयत में खोत होने पर राणक उसको बरज देती है। डॉ. मनोहर शर्मा के शब्दों में- 'हो सकता है कि सोरठ रानी विषयक कथानक पर लौकिक धारा में जलाल संबंधी कथावस्तु ने और लखपत (लाखा फूलाणी) की सोढ़ी नारी के चरित्र ने प्रभाव डाला हो' (राजस्थानी कथागीतों का पर्यालोचन 'परम्परा' राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर, भाग 53-54, 1980)।

इस प्रकार सिंध, उससे लगते राजस्थानी क्षेत्र, शेष राजस्थान और गुजरात में रा खेंगार-सोरठ संबंधी कथाओं- गीतों आदि के मोटे तौर पर तीन पृथक वर्ग मिलते हैं, जिन्हें क्रमशः बीजल, बींझा, सती-वर्ग कह सकते हैं। इनमें परस्पर विवरण (डिटेल्स) संबंधी बड़े अंतर हैं। उदाहरण के लिए सोरठ का पिता कहीं अनीराय, कहीं राजा रोड़, कहीं राजा भोज, कहीं रायचंद देवड़ा है। लेकिन ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि इन संस्करणों की मूल प्रेरणाएँ, उद्देश्य, कथ्य और प्रभाव (थ्रस्ट) बहुत बेमेल हैं और न तो वे ज्ञात इतिहास से मेल खाते हैं और न कोई सुसंगत, एकरूप समानांतर इतिहास अथवा इतिहास का विकल्प बनाते हैं। जहाँ तक ज्ञात विशुद्ध इतिहास की बात है तो श्री क.मा. मुंशी का मत है कि राणक देवी वाला प्रकरण नितांत आधारहीन है। खेंगार मारा नहीं गया था, केवल बंदी बनाया गया था। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उसकी रानी का नाम राणक था, जिससे जयसिंह सिद्धराज की पूर्व में सगाई हो चुकी थी। राणक भी किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है, सिर्फ रानी का सूचक है ('ग्लोरी

दैत वाज गुर्जर देश,' भारतीय विद्या भवन, मुंबई, 1955, भाग 2, पृ. 312)।

तो जगदेव की तरह यहाँ भी मामला यह लगता है कि गिरनार हमेशा से लोक को सम्मोहित करता है, सो उसको कथापीठ बनाकर और कुछ इतिहास और कुछ कल्पना मिलाकर, कुछ इतिहास प्रसिद्ध चरित्रों के साथ अन्य काल्पनिक पात्र मिलाकर लोक मनचीते, जगभाते किस्सों के कुछ समरूप, कुछ विषम गुच्छे रच लिए।

ऊपर खेंगार-सोरठ-जयसिंह से संबंधित गाथाओं-गीतों आदि में प्रसंगवश, लाखा फूलाणी का भी जिक्र आता रहा है। तो अब बात लाखा फूलाणी की।

लाखा फूलाणी

एक मत के अनुसार, लाखा फूलाणी अर्थात् फूल का लड़का समा/जाड़ेजा वंशीय लक्षराज 10वीं शताब्दी में कच्छ का शासक था। वह पाटन के सोलंकी शासक मूलराज (शासनकाल 942-997 ई.) के विरुद्ध, जूनागढ़ गिरनार के आभीर वंशीय शासक ग्राहरिपु का सहयोगी था और उसके पक्ष में युद्ध करते हुए मूलराज के हाथों मारा गया था। उसके बारे में कहा गया है कि वह हमेशा अपराजेय रहा था, हालांकि इस युद्ध में उसकी मृत्यु की भविष्यवाणी की गई थी, तब भी वह इसकी परवाह न करते हुए उसमें सम्मिलित हुआ था। लेकिन जेम्स बजैस ने अपने ग्रंथ 'एटिक्विटीज ऑफ काठियावाड़ एण्ड कच्छ' में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर लाखा फूलाणी को काफी परवर्ती अर्थात् लगभग 1320 ई. के आसपास माना है और यह प्रतिपादित किया है कि उसकी मृत्यु शायद मूलराज सोलंकी नहीं, बल्कि मूलजी वाघेला और उसके सहयोगी, मारवाड़ के सिंहोजी राठौड़ के साथ युद्ध करते हुए हुई थी या फिर उसके दामाद ने उसकी हत्या कर दी थी। शायद कई लाखा हुए हैं और इसी कारण लाखा फूलाणी का काल निर्धारण कठिन रहा है।

समवंश के लोग जो बाद में जामजाड़ा के वंशज होने के कारण जाड़ेजा कहलाए, सिंध से आए थे और लाखा फूलाणी भी सिंधी जनश्रुतियों का हिस्सा बना रहा है। इसी का एक पक्ष यह है कि प्रसिद्ध कथा 'उमर-मारुई' की मारुई या मारवी, जो शाह

लतीफ की सात नायिकाओं में से एक है- फूल की बेटी और लाखा फूलाणी की बहन माना गया है। शाह लतीफ ने भी जनश्रुतियों के आधार पर, लाखा फूलाणी के लखी घोड़े और लाखा के ओड जाति के लोगों के प्रति प्रेम का जिक्र किया है-

*लोखो लखीअ ते चढ़ियो, लखी लाखे हेठि।
कन्दो डमरु डेठि, सुभां साणु सभ कंहिं॥
अड़ियों जो ओडिनि, सो ढंगर ढोलो म थिए।
जिते वेही कनि, लेखो लाखे जाम सें॥*

(बनीअजा सिंधी लोकगीत, डॉ. जेठो लालवाणी, स्टेज पब्लिकेशन, अहमदाबाद 2002, पृ. 39)

लाखा- विषयक राजस्थानी साहित्य

'वैचारिकी,' बीकानेर अंक 8-1 जुलाई-सितम्बर 1992 में स्व. डॉ. मनोहर शर्मा का लेख 'राजस्थानी लोक-साहित्य में लाखो फूलाणी', लोकसाहित्य की विविध विधाओं में लाखा की सशक्त उपस्थिति से परिचित कराता है। उन्होंने लाखा विषयक बातों, दोहों, गीतों और एक ख्याल-लोकनाट्य का जिक्र किया है, पर पहले चर्चा बातों की।

मुंहता नैणसी रचित राजस्थान की ख्यात (इतिहास) में दर्ज लाखा अथवा लखपत सम्बन्धी एक बात में लखपत के जन्म, देश निकाले और उसके शासनारुढ़ होने के बाद उसकी सोढ़ी रानी के मनभोलिया डूम पर आसक्त होने और लाखा द्वारा रानी को मनभोलिये को 'दान' कर देने की कथा (दृष्टव्य : 'मुंहता नैणसी री ख्यात,' राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, भाग 2, पृ. 225-35) में तरह-तरह की रूढ़ियों, मंत्र द्वारा बादल बांधना, सर्दी खाये पुरुष को जीवनदान देने हेतु नवयुवती को उसके साथ सुलाना और पुरुष द्वारा इस 'विवाह' का विस्मरण, विमाता का सौतेला पुत्र से अपप्रस्ताव आदि की भरमार है। सबसे बड़ी रूढ़ि तो यही कि पुरुष-प्रधान समाज में, पुरुष की उदारता और दानशीलता दर्शाने के लिए स्त्री का स्वलन दिखाना एक आसान तरीका है। ऐसे प्रसंग अन्यत्र भी मिलते हैं। राजा रिसालू संबंधी पंजाबी किस्से में राजा अपनी होने वाली पत्नी सौंखनी की शादी उसके प्रेमी दोहमन सुनार से कर देता है। सौंखनी का पिता राजा हरीचंद इस पर ऐतराज करता है तो रिसालू कहता है- 'अब

सौखनी की सगाई मेरे साथ हो चुकी है, इसलिए अब मैं उसके साथ जो चाहे सो करूँ, तुम्हें इससे क्या?’ मेवात की एक कथा में मैदा मीणा दातार, मांगने पर अपनी पत्नी भी कवीश्वर गायकों को दान में दे देता है।

इस कथा और इससे जुड़े राजस्थान के प्राचीन गीत में, जिसका उल्लेख भी डॉ. शर्मा ने किया है, गायक जातियों के लिए पारम्परिक हेय भाव भी ध्वनित है। फिसली भी तो किसके लिए? एक डूम के लिए!

सोढ़ी मारच्यां लाजै कुल रो नांव।

मंगतो-भिखारी भोळ्यो डूम को।

ओ उलगाणा जी ओ।

सोढ़ी मारच्यां लाजै कुल रो नांव।।

अर्थात् सोढ़ी को मारा नहीं, तो वह भी कुल की लाज के ख्याल से! वही सोरठ और बींझा को लेकर खेंगार वाली दुविधा और चतुराई। लाखा-सोढ़ी सम्बन्धी राजस्थानी में प्रचलित गीतों को एक क्रम में जोड़कर डॉ. किरण नाहटा ने ‘राजस्थानी गंगा,’ बीकानेर के जनवरी-दिसम्बर, 2008 अंक में प्रस्तुत किया है। इसमें दान दिए जाने के बाद मनभोलिये और सोढ़ी को यह हिदायत है कि यहाँ से जाकर वे लखपत के राज्य की सीमा के भीतर कहीं निवास न करें, वरना लखपत का अपयश होगा? ‘महाप्रसाद’ देने वाले महादानी को इस स्तुत्य कार्य के लिए अपयश का भय क्यों? गीत का अंत भी न तो लाखा को गौरवान्वित करता है न लोक को। बदहाली से परेशन सोढ़ी लखपत की शरण में लौटती है तो लखपत, ‘कुजात’ को पीने को पानी भी नहीं देता। सोढ़ी मर जाती है तो लखपत अलबत्ता उसका दाह-संस्कार अपने हाथों से करता है। अब बारी है इन सब अनहोनियों के लिए दोषी लोगों को निर्दोष साबित करने की। तो उसके लिए भी भाग्यवादी लोक का अचूक नुस्खा मौजूद है। गुणी विप्र आता है, सोढ़ी के मस्तक पर बेमाता द्वारा लिखी इबारत पढ़ता है और घोषित करता है कि यह सब तो विधना का विधान था। लेख के अंत में डॉ. नाहटा ने यह महत्त्वपूर्ण सूचना दी है कि जैसलमेर की एक महिला इस गीत को लाखा का न कहकर ढाढी गायक का कहकर गाया करती थीं।

मनोहर शर्मा जी ने लाखा संबंधी कुछ और बातें भी प्रस्तुत की हैं। ‘लाखे फूलाणी री बात,’ ‘बातां रो झूमखो’ भाग- 1, राजस्थान साहित्य समिति, बिसाऊ में लाखा के पूर्वज छाहड़ के सिंध से कच्छ में आकर राज्य जमाने, धरणि वाघेला के हाथों मारे जाने और उसके पुत्र फूल द्वारा धरणि को मारकर राज्य फिर लेने की कथा कहती है। इसके बाद यहाँ भी अहीर युवती के गर्भ से लाखा के जन्म, विमाता के अपप्रस्ताव, लाखा के निर्वासन और फिर फूल की मृत्यु के बाद राजगद्दी पर बैठने की वार्ता चमत्कारिक ढंग से कही गई है। इसके बाद यहाँ भी मनभोलिया वाला प्रसंग है, लेकिन बेहतर ढंग से वर्णित है। इसमें लाखा अन्य कथाओं की तरह 12 कोस से ही नहीं पलटता, 2-3 बरस बाद वंग के थाने पर बलोचों के खिलाफ मुहिम से लौटता है और सोढ़ी को इसलिए नहीं मारता क्योंकि उसने सोढ़ी से विवाह के समय उसके पिता को ऐसा वचन दिया था। यह एक पढ़ने योग्य कथा है।

एक और बात ‘मरुभारती’ पिलानी, अंक 27, 1 अप्रैल 1979 में प्रकाशित है। यहाँ भी अहीर युवती के गर्भ से लाखा के जन्म, पोरसा प्रकरण और दानवीरता की कथाएँ हैं। चमत्कारिता कुछ ज्यादा ही चमकी हुई, लाखा दानव के विरुद्ध युद्ध में सूर्य की मदद को चढ़ता है, वर और विलक्षण घोड़े प्राप्त करता है। यहाँ मनभोलिया-सोढ़ी प्रसंग छोड़ दिया गया है।

एक और कथा ‘वरदा’ बिसाऊ 14, 3 जुलाई-सितम्बर 1971 में प्रकाशित है। इसमें लाखा को रूपपिपासु बताकर उसके हर माह नया ब्याह करने की बात कही गई है और उसकी व्याधि के शमन के लिए चतुराईपूर्वक उसका विवाह सूमरे की अपूर्व सुंदरी बाला नेहड़ कुमारी से करवाये जाने की कथा है। (यहाँ मध्यपूर्व के ‘अलिफ लैला’ के किस्सों की अनुगूँज सुनाई पड़ती है)

ये तीनों कथाएँ ‘राजस्थानी गंगा’ के ऊपर उल्लिखित अंक में पुनर्प्रकाशित हैं। इस अंक में गुजराती से अनूदित एक महत्त्वपूर्ण लेख पी.आर. लील का भी है। इसमें लाखा के कवि रूप और भवन निर्माण के शौक का भी जिक्र है। एक राजस्थानी गीत में लाखा का बिरूद यूँ बखाना गया है - ‘लाखा फूलाणी दानवीर था। दोनों हाथों से स्वर्ण लुटाना उसका शौक था। फूल के

घर उत्पन्न लाखा कबूतरों तक को मोती चुगवाया करता था। दानवीर लाखा की दानवीरता ऐसी विश्वविख्यात हुई कि भगवान भास्कर भी ब्राह्मण वेश धर उसे जांचने आये। ऐसे दानी लाखा को जानने के लिए एक प्रसंग आता है, जिसमें एक पेड़ से पूछा जाता है - 'हे हरी-भरी झरबेरी! इस रास्ते से गए उसे कितनी देर हुई है? वह इस रास्ते से निकला है, यह तो तुम्हें मोतियों से जड़ी देखकर मैं समझ गया, मगर उसे गये कितना समय गुजर गया, यह बता दे।'

राजस्थान के सुबह गाये जाने वाले लोकराग 'सूब' में मुनीर खां का गाया यह गीत मेरे संग्रह में है। इस संदर्भ में यह लक्षित करना रोचक है कि बांकिदास की 'ख्यात' के अनुसार भी 'लाखा फूलाणी' ब्रह्म मुहूर्त में प्रातःकालीन राग विभास-बिलावल में गाना चाहिए। आमतौर पर ऐसा निर्देश और चलन किसी प्रातःस्मरणीय विषय को ही इंगित करता है। निश्चत ही लोक और इतिहास, दोनों ही पालों में शोभायमान लाखा फूलाणी एक विलक्षण लोकनायक है।

चुरू के बकसीराम द्वारा रचित ख्याल लोकनाट्य का भी जिक्र डॉ. शर्मा ने किया है। उसमें मनभोलिया प्रसंग के बाद लाखा-सोढ़ी का पुनर्मिलन दिखाकर कथा को सुखान्त बना दिया गया है।

लाखा -विषयक गुजराती जनश्रुतियाँ

लाखा से सम्बन्धित गुजराती जनश्रुतियों का एक रोचक संग्रह धूलैराय काराणी द्वारा संपादित पुस्तक 'कच्छ कलाघर' (प्रवीण पुस्तक भंडार, डेबर रोड, राजकोट) में मिलता है। इसमें लाखा की वीरता, दानवीरता के साथ उसके दुर्गुण भी वर्णित हैं। वह यश लोलुप और एक हद तक स्त्री-लोलुप भी है। वह सिद्धराज जयसिंह की तरह, सोमंग चारण को चीनाई बेला के दातार का शीश दान में लाने भेजता है और लज्जित होता है। इसी तरह हणत दातार उसका दर्प हरता है। वह जसमा ओड़न पर कुदृष्टि डालकर उससे विवाह करता है और फिर एक और विवाह करके जसमा की मृत्यु का कारण बनता है। इसी तरह यहाँ दी गई मूमल सम्बन्धी कथा में लाखा, मूमल के महेन्द्रा से बिछोह का बानक बनता है। मामा-भांजे सम्बन्धी रूढ़ि यहाँ बहुत प्रमुख है, मूलराज सोलंकी अपने मामा सामन्तसिंह चावड़ा को

मारकर पाटन का राज्य प्राप्त करता है और लाखा का भांजा लाखाइत, अपने सौतेले भाई मूलराज के साथ मिलकर, ग्राहरिपु के पक्ष में लड़ते हुए लाखा का वध करता है (लाखा ने क्रोध में इन दोनों भाईयों के पिता राज सोलंकी का वध कर दिया था।) इन सबके बावजूद, अपने गुणों के कारण लाखा का यश अक्षय है। आमली कहती है- 'हुं हरियाली आमली, मुं मे वास कठा। लखपत घोड़ा दोड़िया, महेकी पाघ मथा।' मुझमें सुगंध कहाँ, यह तो लाखा की पगड़ी की सुवास की माया है।

लोकगाथा और इतिहास : निष्कर्ष

इस सबके प्रकाश में अब लौटें, लोकगाथा और इतिहास के सम्बन्ध के प्रश्न पर। हमारे इस सीमित अध्ययन से तो यही लगता है कि लोकगाथाओं आदि का उद्देश्य न तो इतिहास बखानना है, न भविष्य के समाजशास्त्रियों के उपयोग की सामग्री को संग्रहित-अग्रेषित करना। मूलतः इन कथाओं का उद्देश्य मनोरंजन करना है, जिसके लिए कथा को मांडकर, चमत्कारिक अलौकिक घटनाओं से युक्त करके, आकर्षक ढंग से कहना जरूरी है। इसी क्रम में आगमन हो जाता है, आजमाई हुई कथा-रूढ़ियों का जो एक ओर कथा बढ़ाने में मदद करती हैं तो दूसरी ओर श्रोताओं में गाथा की ग्राह्यता सुनिश्चित करती हैं। उदाहरण के लिए यहाँ वर्णित कथाओं और उनके विभिन्न संस्करणों में निम्न अभिप्रायों या रूढ़ियों के दर्शन हो जाते हैं-

1. अस्वस्थ शरणागत पुरुष की प्राण रक्षा के लिए घर की जवान कन्या को उसके साथ सुलाना। ऐसे प्रसंग विश्व में अन्यत्र भी मिलते हैं।
2. दुष्यंत-शकुन्तला प्रसंग के अनुरूप पुरुष द्वारा इस आकस्मिक संसर्ग का विस्मरण और फिर स्मृति-चिह्न दिखाये जाने पर उसका स्मरण होना।
3. महान भक्तों और दानियों द्वारा नेत्र, शीश आदि दान में देना या देव-विग्रह पर चढ़ाना।
4. विमाता द्वारा अपप्रस्ताव और विफल-मनोरथ रहने पर उसके द्वारा रचे, प्रपंच के चलते सम्बन्धित राजकुमार को देश निकाला।

5. बुरे नक्षत्रों में पैदा हुई संतान को त्याग देना या एकान्त में अदीठा पालना।
6. स्त्री में पुरुष की तुलना में कामवासना की अधिकाई दिखाना।
7. लखटकिया अर्थात् वीर पुरुष को अत्यधिक दैनिक पारिश्रमिक पर चाकर रखना और वक्त आने पर इस घाटे के सौदे का सार्थक सिद्ध होना।
8. चतुर दूत या दूती भेजकर समाचार लेना और न देने योग्य समाचार देना।
9. 'पोरसा' अर्थात् चमत्कारी, अक्षय स्वर्ग-पुरुष बनाने की जुगत में लगे कपटी साधु को जैसे को तैसा अर्थात् खुद साधु को खौलते तेल के कढ़ाई में ढकेल कर उसी का पोरसा बना लेना।
10. मंत्रों से वर्षा को बांध देना और इस टोटके की काट होना।
11. देवताओं, अप्सराओं, जोगणियों आदि का जब-तब अवतरण और उनके साथ मानवों की मुक्त अन्योन्याश्रित।
12. युद्ध में असफल रहने पर बैरी के दुर्ग की प्रतिकृति बनाकर उसका भंजन करके प्रण एवं प्राण रक्षा।
13. घोड़े पर लगी धूल से उस पर बैठकर की गई गुप्त यात्रा का भेद खुलना।

इन कथाओं को रचने, कहने वालों का उद्देश्य मनचीते नायक - नायिकाओं के असली या प्रचारित और जनमानस द्वारा स्वीकार लिये गए चरित्र और उनसे जुड़ी असली या रोचक-संभावित और किसी अन्य प्रसंग में प्रयोग में लाई जा चुकी जनभाती घटनाओं को कथा में गूँथकर कहना है। मात्र इतिहास उन्हें रूखा, जटिल, दुरूह लगता है, वह रोचक कथा नहीं बनाता, कुछ मामलों में वह दानदाताओं की दानशीलता को तो नहीं ही उकसाता, दातारों के प्रकोप को भी आमंत्रित कर सकता है। इसलिए बात से बतंगड़ भला।

उधर आम भारतीय भी इतिहास में कम, पुराण में ज्यादा

रुचि रखता है। हम इतिहास को गाथा बना लेने और गाथा को इतिहास समझ लेने के आदी हैं। यदि एक ओर हम देवताओं का मानवीकरण कर सकते हैं, उनसे चुहल कर सकते हैं तो दूसरी ओर हम नायक को देवता बना लेते हैं और इस क्रम में उसके (असली या आरोपित) दोषों, जैसे लाखा का रूप से तृप्त न होना और हर माह नया विवाह करना- को भी समर्थों को शोभा देने वाला दूषण -आभूषण मान लेते हैं।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में मध्यकालीन काव्यों के बारे में जो कहा है, उसे यहाँ याद कर लेना अप्रासंगिक न होगा। कुल मिलाकर ये काव्य काल्पनिक निज-धरी, कथानकों पर आश्रित काव्य से बहुत भिन्न नहीं होते। उनसे आप इतिहास के शोध की सामग्री संग्रह कर सकते हैं, पर इतिहास के नहीं पा सकते। भारतीय कवि इतिहास प्रसिद्ध पात्र को भी निजधरी कथानकों की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है। इस कार्य के लिए वह कुछ ऐसी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग करता है, जो कथानक को अभिलषित ढंग से मोड़ देने के लिए दीर्घकाल से भारतवर्ष की निजधरी कथाओं में स्वीकृत होते आए हैं और कुछ ऐसे विश्वासों का आश्रय लेता है, जो इस देश के पुराणों में और लोक-कथाओं में दीर्घकाल से चले आ रहे हैं। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिए गए हैं। वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानक बनाने की प्रवृत्ति रही है। (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (1952) 1980, पृ. 76-78)।

यहाँ प्रसंगवश यह भी जोड़ा जा सकता है कि कभी-कभी रोजनामचा बहियों के संधारण को कुछ मुगल शासकों द्वारा लिखे गए आत्मवृत्तों और मुगलों के दरबारी इतिहास लेखन के समकक्ष मान लिया जाता है, लेकिन जैसा सुजान और लायड रुडौल्फ ने कानोता, जयपुर राजस्थान के अमर सिंह की डायरी से सम्बन्धित अपने एक लेख में कहा है- 'ये रोजनामचे मानवीय कार्य व्यवहार की सतह भर को छूते थे और (इतिहास या आत्मकथा के लिए जरूरी) उद्देश्य व तात्पर्य के पहलुओं को छोड़ देते थे (द अमरसिंह डायरी अ. राजस्थान वायस इन द ऐरा ऑफ पैरामांडटसी 1987 पृष्ठ 5)।

अस्तु, ऐतिहासिक पात्रों तक से जुड़ी लोकगाथाओं आदि में इतिहास ढूँढना अपने को भ्रमित करना और लोकगाथाकारों के प्रति अन्याय करना होगा। यदि उनमें थोड़ा बहुत इतिहास आ भी गया है तो उसे आनुषंगिक, आकस्मिक और अनभिप्रेत ही मानना होगा। यह दूसरी बात है कि तथ्यान्वेषी इन कथाओं में इतिहास और समाजशास्त्रीय-नृतत्वशास्त्रीय अध्ययनों के लिए उपयोगी सामग्री भी ढूँढ निकाल सकते हैं। उदाहरण के लिए-

1. फूल और लाखा का बलोचों के उपद्रवों पर नियंत्रण करने लिए बंग की चौकी पर रहना और लाखा के काठी लोगों के साथ सम्बन्ध।
2. सूमरों द्वारा विवाह में समा कन्याओं को लेना, पर उन्हें कन्याएँ देना नहीं।
3. लाखा द्वारा कन्नोज जाकर सेतराम राठौड़ को मारने और इस प्रकार बाद में सीहोजी राठौड़ द्वारा अपनी हत्या की भूमिका बनाना। (वैसे 'मुहता नैणसी की ख्यात' में लाखा से आनुषंगिक रूप से जुड़ी दो कथाओं में से एक में उसका मरण मूलराज और दूसरी में सीहोजी के हाथों दिखा दिया गया है, क्रमशः भाग 1 व 2 में)।
4. अहीर बाला के गर्भ से महान पुरुष का जन्म (गूजर स्त्रियों की धाय माँ के रूप में ऐतिहासिक प्रतिष्ठा के संदर्भ में) जैसे प्रसंग उपयोगी व स्वतंत्र आनुषंगिक साक्ष्य हो सकते हैं।

एक और बात। ये गाथाएँ तत्कालीन समाजों के शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षों को प्रस्तुत करती हैं। यदि एक ओर वे उदात्त और प्रेरण हैं तो दूसरी ओर वे कुरीतियों को भी प्रतिबिंबित और पोषित करती आई हैं। उदाहरण के लिए मूल नक्षत्र में पैदा हुई सोरठ को नदी में बहा दिए जाने की बात को बार-बार सुनते हुए ऐसा लगने लगता है, मानो यह गूढ़ अंधविश्वास और यह जघन्य अपराध नितान्त स्वाभाविक और जायज है।

यह तथ्य भी इन गाथाओं को इतिहासकार के लिए उपयोगी बनाता है, भले ही यह बात लोक साहित्य को अतिक्रम्य मानकर महज उसकी पूजा-वंदना करने वाले आराधकों को अप्रीतिकर लगे। यह लोक अवहेलना नहीं है, केवल उसके संतुलित आकलन

का प्रयास है। हमारा लोक साहित्य इतना समृद्ध, इतना महत्वपूर्ण है कि हमें उसमें किसी अतिरिक्त, अनुपस्थित गुण का आरोपण करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए।

संग्रहण लोकसंगीत का - कुछ विचार, कुछ अनुभव

हर दौर में कुछ अच्छा, कुछ बुरा होता आया है, न आज जो हो रहा है वह बुरा है न जो कल तक हो चुका, सब अच्छा था। बुद्धिमान विगत के श्रेष्ठ में वर्तमान के श्रेष्ठ का योग करते चलने में है। विगत की रक्षणीय धरोहर का एक हिस्सा हमारे लोक-संगीत के महत्वपूर्ण अंशों से ताल्लुक रखता है और उन अंशों को सहेजना और अग्रेषित करना हमारा दायित्व बनता है। यह दायित्व हम अपनी रूचि, सुविधा, परिस्थिति के अनुसार कई तरह से निभा सकते हैं। चीजों को मूल रूप में हो सके तो दृश्य-श्रव्य दोनों माध्यमों में, वरना कम से कम केवल श्रव्य रूप में रिकार्ड करके चीजें मूल रूप में आगे भी जीवित रह सकें, संभव की हदों के अंदर, इसका प्रयास करके या फिर चीजों का युगानुसार, अनुकूलन (ऐडैप्टेशन) करके। लोक संगीत सिर्फ मनोरंजन की चीज नहीं है। वह समाज के शरीर में प्रवाहित सांस्कृतिक लहू है, जीवन का स्पंदन, समाज का आईना है। आम आदमी की नैसर्गिक, अकृत्रिम कलात्मक अभिव्यक्ति है, इतिहास का अक्स है। दुर्भाग्यवश हमारे देश में एथनोम्यूजिकोलौजी-संगीत का नृतत्व-शास्त्रीय-समाजशास्त्रीय अध्ययन एक अपेक्षाकृत उपेक्षित विज्ञान है। विदेशों में लोक की मूल, अपरिमार्जित फील्ड रिकार्डिंग का उत्पादन-विक्रय एक बड़ा उद्योग, एक बड़ा उपक्रम है। हमारे यहाँ नहीं, इसलिए यह और भी जरूरी हो जाता है कि हममें से प्रत्येक, जहाँ तक संभव हो लोकनाट्य-लोकनृत्य सहित, लोक संगीत, जहाँ-जब जैसा मौका हो, रिकार्ड करें। बहुत सारी विधाएँ, साज, बहुत से अच्छे कलाकर आगे अलभ्य हो जाने वाले हैं, बहुत अंशों में तो यह हो ही चुका है। हमारा लोक संगीत अधिकांश में गाँव की चीज है और हमारे गाँव तेजी से बदल रहे हैं। लोक संगीत का संग्रहण, जैसा मैं आगे बताऊँगा, हमेशा आसान नहीं होता, दूसरी ओर तकनीक ने कुछ आसानी भी पैदा कर दी है। उदाहरण के लिए कामचलाऊ, दृश्य-श्रव्य रिकार्डिंग अब मात्र एक मोबाइल फोन द्वारा भी की जा सकती है, जबकि पहले इसमें सौ झंझट थे।

चालीस वर्ष बीत गए हैं, मुझे राजस्थान के लोकसंगीत के संग्रह का कार्य करते हुए। नोहर-भादरा से शाहबाद तक और किशनगढ़ बास से गडरा रोड तक यह कार्य करने के अवसर मुझे मिले हैं। राजस्थान के बहुविध लोकगीतों, ख्याल-तमाशों और नृत्यों के साथ बजने वाले संगीत के संग्रह के इस अवसर और उपक्रम और उसके नतीजों को मैं अपने जीवन की उपलब्धियों में गिनता हूँ।

राजस्थान की पेशेवर, संगीत-जीवी जातियों के गायक-गायिकाओं की कला की रिकार्डिंग तो काफी होती रही है। मेरा प्रयास रहा है कि आम आदमी की जिन्दगी में घुले-मिले गैर-पेशेवर संगीत को भी सुनूँ और रिकार्ड करूँ। जाहिर है कि इस प्रकार के संगीत को रिकार्ड करना ज्यादा कठिन और कष्टसाध्य है, क्योंकि पेशेवर लोकसंगीत को तो आयोजित ढंग से भी प्रस्तुत करवाया और सुना जा सकता है, लेकिन गैर-पेशेवर लोकसंगीत को तो अपने माहौल में, खेतों-खलिहानों में, मेलों में और उत्सवों में ही सुना जा सकता है। अंदर के आनंद को प्रकट करते हुए, स्वांतः सुखाय गाते और नृत्य करते, आम आदमियों और स्त्रियों का संगीत ही विशुद्ध लोकसंगीत है, जिसको सुनने-देखने, रिकार्ड करने और फोटोग्राफ करने का अपना-अलग ही आनंद है।

हाँ, एक बात स्पष्टीकरण के तौर पर अर्ज कर दूँ। मेरा ज्यादा जोर लोक संगीत के साहित्य पक्ष पर नहीं, उसके संगीत पक्ष पर रहा है। बिना ध्वनि आलेखन के लोकगीतों के शब्दों मात्र का संकलन काफी हो चुका है। लेकिन जैसा 'वंडरलैण्ड' वाली एलिस ने कहा था-बिना चित्रों के किताब कैसी, कुछ-कुछ वैसे ही, मुझे लगता रहा है कि बिना ध्वनि के लोकगीत कैसा? इसलिए मैं 'लोकगीतों' के नहीं, लोकसंगीत के संग्रह के बारे में बात करूँगा।

यूँ तो ग्रामीणों से सुनकर या उनसे बातचीत करके लोकगीतों को लिखना भी आसान नहीं होता। लोक-गायक के लिए गीत गाना आसान है, नर्तक के लिए नाचना आसान है, लेकिन गीत या नृत्य के बारे में बात करना, उसके शब्द या मूवमेंट्स बताना मुश्किल है। आप कुछ पूछिए - उत्तर मिलेगा 'आईजै'। 'हालरिया' नामक गीत में वर्षा से हरी होती वसुंधरा का उल्लेख है, लेकिन

सिद्दीक मियां से गीत सुनकर 'बंसदरा' से वसुंधरा तक पहुँचने में मुझे खासी मगजपच्ची करनी पड़ी थी।

कोई सोच सकता है कि टेप रिकार्ड रखने पर तो ऐसी कठिनाईयाँ नहीं आयेंगी या कम हो जायेंगी। लेकिन ध्वनि-आलेखन की अपनी समस्याएँ हैं। खासतौर पर यदि आप स्तरीय रिकार्डिंग चाहें और उपयुक्त साज-सामान का अभाव हो। बहुत पहले की बात है। मैं अपना बिजली से चलने वाला स्पूल टेप रिकार्ड लेकर अलवर से निकला रतवई रिकार्ड करने के लिए। श्री हुरमत और श्री ईसरा से भेंट हुई। उन्हें लेकर रात को अलवर सर्किट हाऊस में लौटा कि कल रिकार्डिंग करेंगे। रात बारह बजे फरमाइश हुई -साहब, बीड़ी की तलब लग रही है। साहब, दोनों आदरणीय कलाकारों को लेकर, दोनों चौराहों तक हो आये। दुकानें बंद। कोई बात नहीं -पत्तों से काम चला लेंगे। सुबह रिकार्ड करने बैठे तो बिजली गायब। इंतजार। उधर आदरणीय कलाकारों की बकरियाँ अपने बाड़ों में व्याकुल हो रही हैं और उन्हें चराने ले जाने का वक्त निकला जा रहा है। हारकर, मय सारे लवाजमें के वापस उनके गाँव गए और बिजली के सब स्टेशन के पीछे बनी लाइनमैन की कोठरी में लूहड़ी-लूगड़े टांगकर 'स्टूडियो' बनाया और जैसे-तैसे रिकार्डिंग की।

लोकसंगीत, लोकजीवन का अभिन्न और नैसर्गिक अंग होता है। इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों में से वे हैं, जो खेतों को पानी पिलाते, चरस चलाते किसान अक्सर गाते हैं। टोंक जिले में निवाई से जयपुर लौटते हुए बारे टेरते हुए दो कृषकों को मैं रिकार्ड कर सका। लेकिन भीलवाड़ा जिले के एक गाँव में जब कुछ कृषकों को एक जगह बैठाकर बारे सुनने का प्रयास किया, तो कृषक गा नहीं सके। वही बात कि आम आदमी के संगीत को आयोजनों के द्वारा सुनना बड़ा कठिन होता है।

कठिनाईयाँ और भी हो सकती हैं। भरतपुर से लौटते हुए एक कुएँ पर पानी पिया। दो वयोवृद्ध कृषक चरस चला रहे थे। लेकिन बारे की फरमाइश पर टका-सा जवाब मिला- 'बारा सुनना है? एक बारे के सौ रुपये लगते हैं।' अपना हास्यबोध भी जीवन्त रखना पड़ता है- मैं भरतपुर जिले के मैथना गाँव में महिलाओं की गीत रिकार्ड कर रहा था, तो बीच में यह 'बोल' भी सुनने को मिला- 'अफसर तू बड़ा रंगीन, कपड़ा पहने बहुत

महीन, रात को रंडी राखे तीन।' मेरे एक मित्र हैं देवेन्द्र मिश्रा-काठियावाड़ा में गिरनार के पास फोटोग्राफी करते हुए एक महिला का चित्र ले लिया तो वह बोली- 'फोटो क्या ले जाता है, मुझे ही ले चल।'

अफसर बनकर, रुआब दिखाकर, आदेश देकर, आम आदमी का संगीत सुनना सम्भव नहीं है। इसको सुनने और संग्रहित करने के लिए तो आम आदमी ही बनना होता है। एक बार दौसा जिले के खुरा गाँव में एक मेले में मैं गया। मुझे अधिकृत तौर पर बताया गया कि सुधारवादियों ने इस मेले में नाचना-गाना बंद करवा दिया है। कोई नाचे-गाये तो जाति-पंचायत पचास से सौ रुपये का जुर्माना करती है। मैं मेले में घूमा। कुछ नवयुवकों से मित्रता की। उन्हें रिकार्ड किया। थोड़ा-मोड़ा नृत्य भी हुआ, जो फोटोग्राफ किया। 'सम्भव नहीं है' की सूचना देने वाले अधिकारी मित्र आश्चर्यचकित हुए।

इसी तरह का वाकया दिल्ली से अलवर आते हुए एक बार घटा। मुझे कुछ मेव बालक मिले। फोटो खींची। 'पेळी बजाना आता है'-पूछा। उत्तर मिला- हम तो पढ़ने जाते हैं और 'पढ़ाई और पेळी का क्या साथ'। आगे बढ़े, कुछ और बालक मिले। उन्हें लेकर सड़क के किनारे बैठा। लगभग एक घण्टे तक उन बालकों ने रतवई और अन्य गीत सुनाये। यह रिकार्डिंग मेरे संग्रह की सबसे मूल्यावान रिकार्डिंग में से एक है।

बीच के इंतजामिया लोगों का असली लोकसंगीत से परिचय और नजरों में उसका मोल इतना कम होता है कि वे अपने उत्साह में अक्सर गुड़ गोबर कर देते हैं। जब मैं पहली बार रामनगर बूंदी गया तो ऐसे ही हुआ। थानेदार साहब से निवेदन किया गया। थोड़ी देर में क्या देखते हैं कि बरातों में जैसा पंचमेल बेंड बजता है, वह चला आ रहा है... लाहौल बिलाकुव्वत!

बड़ी मुश्किल से माहौल बदलकर वहाँ उपस्थित दो वृद्ध महिलाओं से कुछ विशुद्ध पारम्परिक देख सुन पाए। दुबारा जब मैं गया तो सीधे बस्ती में जाकर बैठा और कुछ प्राप्त कर सका। बाद में पण्डेर की कंजर बस्ती की महिलाओं ने भी मुझे ढेर सारे गीत रिकार्ड करवाए।

आमतौर पर आदिवासियों के संगीत को रिकार्ड करना

सबसे आसान होता है। वे इतने सहज और खुले दिल के होते हैं कि बाहर के व्यक्ति की उपस्थिति उन्हें विचलित नहीं करती। लेकिन नाजुक परिस्थितियाँ वहाँ भी बन सकती हैं। एक बार मध्यप्रदेश के अलीराजपुर के दक्षिण में एक गाँव में भिलालों के नृत्य-संगीत का आयोजन रखा गया था। एक नृत्य में एक ऐसा व्यक्ति आकर महिलाओं के साथ नाचने लगा, जिसे शेष लोग नहीं चाहते थे। देखते-देखते भृकुटियाँ तनी और तीर कमान भी। बात-बात में खून खराबा होने लगा। बड़ी देर तक एक 'धा' ऊपर और दूसरी नीचे अटकी रही। राम-राम करे, शांति हुई और थापें सिरों पर न पड़कर ढोलों पर ही पड़ी।

पेशेवर लोकगायकों का शुल्क चुकाकर उन्हें सुनना अपेक्षाकृत आसान है। यह बात दूसरी है कि उनमें से बहुत से अपने पारम्परिक धंधे को छोड़ते जा रहे हैं, क्योंकि उसमें इज्जत और पैसा दोनों नहीं हैं। बेणेश्वर मेले में कुछ गलालेंग गाने वाले जोगियों को मैंने बुलाया। गाने के नाम पर बोले -साहब हमने भीख मांगना छोड़ दिया है। गाने और भीख मांगने और समाज में उसे नीचे स्थान के इस गठबंधन से बड़ा नुकसान हो रहा है। बड़ी मुश्किल से उन्हें समझा पाया कि भीख मांगना बुरा है, लेकिन गाने में क्या बुराई है, जो उसे छोड़ते हो।

लोकगीत और लोकसंगीत संग्रह का काम काफी अनिश्चित नतीजों वाला और कभी-कभी जोखिम भरा होता है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी के बारे में मशहूर है कि एक बार वे एक झोपड़ी के बाहर दुबके हुए, चक्की पीसती हुई महिला के गाये गीत नोट कर रहे थे। उधर से गुजरते हुए कुछ लोगों ने सुबह के धुंधलके में उन्हें देखा और चोर समझ लिया। कल्पना कीजिए बेचारे पंडित जी, लाठियाँ ताने क्रुद्ध ग्रामीणों को यह समझाने की कोशिश कर रहे हैं कि उनके इरादे नेक हैं और वे बैयरबानियों के गीत नोट करके एक महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। लाठियाँ नहीं, पत्थर खाने की नौबत तो मेरे साथ भी आ चुकी है। कोटा जिले के एक गाँव में कंजरों के गीत सुनने का कार्यक्रम था। रास्ते में देर हो गई और इकट्ठे किये हुए लोग बिखर गए। जब वे वापस लौटे, तब शायद उनमें से कुछ अपना संध्याकालीन आवश्यक कर्म कर चुके थे। कुछ उसका असर कुछ ऐसे अवसरों पर सदा ही बना रहने वाला संशय -ये लोग क्यों आये हैं- सिर्फ गीत ही सुनना है या असली इरादा कुछ और है- जो भी हो, थोड़ी ही देर में हमारी ओर

कंकरो-पत्थरों की बौछार शुरू हो गई। उस दिन के 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' का यूँ असमय, अनियोजित समापन हुआ।

स्वयं में ग्रामीण महिलाएँ ऐसे आयोजनों में एक बार झिझक खुल जाने और आश्वस्त हो जाने पर बड़ी मददगार साबित होती हैं और उत्साहपूर्वक गाती चली जाती हैं। लेकिन सम्बन्धित पुरुषवर्गों की शंकाएँ, सामाजिक प्रतिष्ठा सम्बन्धी मान्यताएँ और कभी-कभी उनकी वणिक् वृत्ति इसमें बाधक होते हैं। अजमेर में एक बार गाड़ोलिया लोहार स्त्रियों के गीत मैंने रिकार्ड किए। चलते समय तक कुछ पुरुष आ गए। एक हल्ला उठा -अरे! गीत रिकार्ड कर लिए रे। कुछ -कुछ इस अंदाज में कि रोको, चोरी करके माल लिए जाते हैं। फिर वही जो होता आया है, भाव-ताव लेन-देन।

लोगसंगीत के संग्रह के सिलसिले में नारी मनोविज्ञान का एक सर्वथा अप्रत्याशित पक्ष भी एक बार मुझे देखने को मिला। मैं शाहबाद क्षेत्र के एक गाँव में सहरियों के गीत रिकार्ड कर रहा था। कूँडी, ढोलक, मंजीरे के साथ सहरिये मस्ती में गा-बजा रहे थे। अलाव जल रहा था। पतले सरकंडे जैसी एक घास मशालों

का काम कर रही थी। रिकार्ड किया हुआ संगीत सुनते हुए अलाव के उस ओर खड़ी एक सहरिया स्त्री एकाएक उच्च स्वर में प्रलाप करने लगी। भगवान् जाने उसने हमें डाक्टर समझा या और कुछ, उसका तीव्र उद्विग्न स्वर सारे वातावरण पर छा गया। स्त्री को उसके पास-पड़ोसियों और रिश्तेदारों ने पकड़ा- आई हुई प्रेतबाधा को उतारने के लिए मिर्चों का धुआँ किया। किसी तरह हमने वो बस्ती छोड़ी। कुपोषण और शोषण की मार सहती, हिस्टीरिया ग्रस्त उस नारी के प्रति हमारे मन में भारी करुणा थी। अक्सर होता है कि कुछ लोगों से गीत सुनना अन्याय लगता है। स्वार्थ का काम लगता है- 'हाइंगडिक्लेरेशन' लेने की उतावली जैसा। लेकिन तब मैं मन को समझाता हूँ- आज इनके पास रोटी नहीं है, लेकिन फिर भी इनके होठों पर गीत और पाँवों में थिरकन है। कल शायद पेट में रोटी हो, लेकिन इनके गीत और इनके नृत्य समाप्त हो जाएंगे। इसलिए, इनको रोटी मिले इस उद्यम में लगे रहो, लेकिन उसे भी रिकार्ड कर रखो जो देखते-देखते जा रहा है, खत्म हो रहा है या वर्णसंकर बनकर अपना सुनने लायक होने का गुण खोता जा रहा है।

देवनारायण की देन

डॉ. महेन्द्र भानावत

मनुष्य जीवधारी प्राणी कई जन्मों का पिंड होता है। अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार वह गुण-अवगुण और गति-मति का धारक होता है। अपने श्रेष्ठत्व के कारण जो वैशिष्ट्य लिए होता है, वह लोक में पूजनीय, प्रतिष्ठित तथा लोकप्रियता का आधार बनता है। वही आगे जाकर लोकमंगल का महा मानव बन देवत्व रूप में स्थापित होता हुआ अलौकिक एवं दिव्य परचम को धारण करता है। ऐसे अनेक लोकदेवता हुए हैं, जो जन-जन के आस्थावान और श्रद्धेय बने हुए हैं। इनमें देवनारायण की कई दृष्टियों से विशेष प्रसिद्धि है। जितनी इनकी प्रसिद्धि है उतनी ही इनकी लोकसिद्धि के चर्चे-परचे हैं। सच तो यह है कि देवनारायण अपने नाम-कर्म के अनुरूप देवों में देव ही बने हुए हैं।

लोकदेवता लौकिक-अलौकिक का सेतुबंध होता है। लौकिक रूप में वह लोगों की आस्था का संबल बनता है। उनके दुख-दर्द दूर करता है। अपने घुड़ले, मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर सवाल-संवाद करता है। लोगों की समस्याओं से रू-ब-रू हो, उनका निदान करता है। ऐसे आस्थावान लोगों का अडिग विश्वास उनकी स्थायी प्रतिष्ठा, सेवा-पूजा के लिए मंदरी अथवा देवरे का निर्माण करता है, जहाँ उनकी मूर्ति स्थापित कर दी जाती है। उसमें देवता का वास बना रहता है। ऐसे कई जगह गाँवों, शहरों में इन देवाओं के मंदिर हैं, जहाँ सप्ताह में एक निश्चित दिन उनकी चौकी लगती है। दर्शनार्थी जातरू आते हैं और समस्या का निदान पाते हैं।

अलौकिक रूप में ऐसे देवता कभी स्वप्न के माध्यम से, तो कभी तीव्र सुगंधी के माध्यम से, कभी फूल-पाती के माध्यम से, तो कभी परचे के माध्यम से अपना दिव्य संदेश देते हैं। अनहोनी को होनी करते हैं। रूप-सरूप का दरसाव करते हैं। अप्रत्याशित सुख का कारण बनते हैं।

इसीलिए मनुष्य स्वयमेव कुछ नहीं है। वह किसी दिव्य शक्ति से संचरित है। उसी के चलाये चलता है। विचरता है। चार्ज होता है। ऊर्जा ग्रहण करता है। जो उस शक्ति के प्रति निष्ठावान होता है, वह उसके इशारे को भाँप शुद्ध बना रहता है। सद्गुणी, सदाचारी तथा समतावान बना रहता है। प्रकारान्तर से वही अलौकिक शक्ति समग्र सृष्टि का संचालन करती है। मनुष्य जब अपने आत्म-तत्त्व को जानते हुए भी अनजान बन अज्ञान और अपमान का पथ पकड़ता है, तब कई तरह के व्यवधान उसे आ घेरते हैं। विपदाओं, विसंगतियों तथा विपरीत स्थितियों में उसका भटकाव बढ़ता रहता है। वह उस शक्ति को भूल जाता है और भूल-भूलैयों के भँवरजाल में उलझा रहता है, लेकिन अंत में जब वह असक्त हो जाता है, तब भी उसकी आत्म-चेतना परमात्मा की शरण नहीं पकड़ती है, तब तक उसे मृत्यु भी वरण नहीं कर पाती है। इसीलिए मनुष्य अपने जीवन में किसी न किसी देवत्व की शरण थामे रहता है। ऐसे ही व्यक्ति हर स्थिति-परिस्थिति में सदा सुखी एवं संतोषी बने रहते हैं।

यही वह पक्ष है जो मनुष्य को धर्मजीवी बनाता है। मन को संयमित, अनुशासित और नियंत्रित करता हुआ जो दिव्य के सुपुर्द हो जाय, जीवन उसी का सार्थक है। देवनारायण की शरण मनुष्य को जटिल होने से बचाती है और उसे सरल-सहज निश्छल और प्रकृतिजन्य बनाती है। जो जितना अधिक प्रकृतिजन्य होगा, वह अपने को छोड़ उस दिव्य एवं अलौकिक शक्ति को वरण करता हुआ संसारिकता से मुक्त हुआ मिलेगा। यही कारण है कि देवताओं द्वारा उन्हीं व्यक्तियों को अपना घोड़ा याकि घुड़ला अर्पित किया जाता है जो उनके भोपे होते हैं, जिनके शरीर में देवता आवेश अथवा भाव रूप में अपनी उपस्थिति देते हैं।



देवनारायण का जीवन दिव्य अनुभूतियों, अलौकिक घटनाओं, अचरज भरे चमत्कारों तथा असाधारण अद्भुत कौतुकों का अकूत खजाना रहा है। वे अवतारी पुरुष थे। युगयुगीन महान आत्माओं के अंशधर-वंशधर बन उन्होंने धरती पर जो लीला दिखाई, वह किसी देवात्मा का ही प्रताप है।

उनका अवतरण धर्मी राजा धर्मराज के रूप में हुआ। जितने भी देव-देवरे मिलेंगे, उनमें सर्वाधिक पूजा धर्मराज की ही होती है। प्रथम देवता के रूप में उन्हीं का स्मरण किया जाता है। उदयपुर से 65 किलोमीटर की दूरी पर मोलेला गाँव का अस्तित्व ई.पू. दूसरी शताब्दी का है। यह गाँव लोक देवताओं की माटी की मूर्तों के निर्माण का विश्व विख्यात गाँव है।

प्रसिद्धि है कि यहाँ के दो कुंभकार भाइयों को एक रात स्वप्न दिया, जिसमें जमीन पर एक घुड़सवार की छाया दिखाई दी। वह छाया धर्मराज की थी, जिसके एक हाथ में कमल का फूल, दूसरे में भाला थामे था। सामने नाग क्रीड़ा था। दोनों भाई अंधे थे। तत्काल उठे। उनकी आँखें खुल गईं। स्वप्न के मुताबिक उन्होंने माटी का लौंदा बनाया और हाथों से वैसी ही मूर्ति बनाई, तब से वह मूर्ति चल निकली। धर्मराज की इस मूर्त के बाद उन्होंने अन्य देवी-देवताओं- दुर्गा, आमज, कालका, रामू, केवल, गूना, मेनू, चावंडा, सूरमाता, मच्छीमाता, नारसिंघी, कूकड़माता, हंसा माता, काला, गोरा, ताखा, खाकल, लालां, फूलां आदि की मूर्तें बनानी प्रारंभ कीं। ये प्रतिमाएँ मोलेला से विशेष आस्था, संस्कार, अनुष्ठान के साथ मध्यप्रदेश, गुजरात, उत्तरप्रदेश, हरियाणा तक के देवरों में ले जाई जाकर प्रतिष्ठा पाती हैं। धर्मराज के अलावा देवनारायण को ऊदल, किसन, कालादेव नाम से भी पूजा जाता है।

देवनारायण की दिव्यता की दूसरी बड़ी देन पड़ चित्रांकन की है, जो पूरी दुनिया का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किये है। देवनारायण की पड़ नाम से इस पट्ट निर्मित चित्रावली में देवनारायण द्वारा अपने पिता सवाई भोज के बैर-शोधन के प्रसंग को बड़े शौर्य के साथ उभारा गया है। कहा जाता है कि नरवरगढ़ के राजा ने अपनी पुत्री जैवंती (जेमती) की सगाई करने के लिए पुरोहितों को भेजा। पुरोहित बहुत भटके, मगर कहीं भी रिश्ता नहीं हो सका, तब जैवंती ने पुरोहितों को चौबीस भाइयों का रेखांकन देते हुए कहा कि जहाँ भी ये हों, वहाँ मेरा सगपण कर आना। इन चौबीस भाइयों में सवाई भोज तेरहवें नम्बर के भाई थे, जो असाधारण वीरता और शौर्य-शक्ति के धारक थे।

देवनारायण ने न केवल अपने पिता के अजेय पौरुष को पवित्र किया, अपितु अपने में उसे सवाया कर उनके नाम तथा संपूर्ण खानदान को सदा-सर्वदा के लिए अमर कर दिया। गूजर समुदाय के लोग देवनारायण की पड़ को साक्षात् देव-रूप समझ मनौती अथवा कार्य सिद्धि के लिए भोपे को आमंत्रित कर पड़ बंचवाते हैं। पूरा गाँव देवता-दर्शन कर धन्य होता है। पड़ के साथ जंतर नामक वाद्य बजाया जाता है। इसका निर्माण भी देवनारायण ने ही बड़े चमत्कारिक ढंग से किया। अपने हाथ की थप्पी से दो तूम्बे पैदा किये। काले सर्प के बदन से उसकी डंडी, फण से खुरी और आंत से तांत बनाई। पड़ की गाथा गायिकी के साथ नृत्यमय अदायगी से रात-रात भर वाचन का रंग निखर उठता है। जंतर की बुलंद स्वर लहरी के साथ गायक का ओजस्वी स्वर और शौर्य वीरत्वपूर्ण गाथा का उठाव जब चरम पर पहुँचता है, तब जोश थामे नहीं थमता और शूरत्वपन का ऊर्जस्व पास पड़े घास के औंधे-बीड़े तक को भस्मीभूत कर देता है।

देवनारायण जितने बली-बहादुर और बांके थे, वैसा ही शक्तिवंत जीवंत उनका नीलागर घोड़ा था। जितने भी योद्धा हुए, उनकी असीम शक्ति उनका वाहन घोड़ा रहा। पाबूजी की तरह उनकी केसर कालमी, रामदेव का रेवंत, कल्ला राठौड़ का लीला, साढूमाता की काली, भोज की बूली, बालणराव की हिरणी, बहाराव का बोहर, नीया राव का नौलखा जैसे घोड़ों ने जो कमाल दिखाया, उसके कारण उनकी कीर्ति व्यापक बनी हुई है। कई जगह घोड़ादेव का मंदिर मिलेगा, जहाँ केवल घोड़ा ही पूजा जाता है। रामदेवजी को घोड़ा चढ़ाया जाता है। गोगाजी का घोड़ा फिराया जाता है।

घोड़े में कुबेर का वास कहा जाता है। असीम ऊर्जा का पुंज कहा जाने वाला सूरज का रथ भी घोड़ों द्वारा ही खींचा गया। घोड़े की ताकत मनुष्य की ताकत से भी कई गुना अधिक होने से सर्वत्र घोड़ा शक्ति यानी हॉर्स पावर का बोलबाला है। घोड़े की पीठ पर स्वयं सूर्यदेव आसीन हैं। इसीलिए घोड़ा साम-दाम-दंड-भेद नीति का समझदार जानवर कहा गया है। घोड़े का महत्त्व इस बात से भी आंका जा सकता है कि उसका सवार भी उतना ही पौरुष का धनी है। शक्तिशाली पुरुष की पहचान उसकी घुड़सवारी से भी है। यहाँ भी सवार के पूर्व घुड़ यानी घोड़ा महत्त्वपूर्ण बना हुआ है। सच भी है, घोड़े की पहचान जहाँ उसके सवार से रही, वहाँ कई बार घोड़े द्वारा उसका सवार भी पहचाना गया है।

प्रताप और चेटक दोनों एक-दूसरे के पूरक रहे। प्रताप का नाम लेते ही चेटक आँखों पर तैर आता है और चेटक का नाम लेते ही प्रताप से आँखें ऊँची हो जाती हैं। चेटक के कारण प्रताप की न केवल पहचान बढ़ी, हल्दीघाटी के युद्ध में भी उनका शौर्य द्विगुणित होकर उभरा। चेटक सचमुच में देव घोड़ा था।

यह देव घोड़ा देवनारायण द्वारा दिया गया था। इसीलिए यह अलौकिक था। अद्भुत था। चमत्कारिक था। कई बातों में दोनों समानधर्मी थे। दोनों देव गुणी थे। दोनों में देव शक्ति का वास था। चेटक और प्रताप का जन्म एक ही दिन हुआ। दोनों का मन एक था। प्रताप जब इस पर सवारी करते, लगाम खुली छोड़ देते। चेटक बोलता नहीं था, पर अपने बुद्धिकौशल से प्रताप के हर इशारे को समझ काम सवाया कर दिखाता। पुरुषों में सभी जीवों के थन होते हैं। चेटक इसका अपवाद था, तो प्रताप के भी थन नहीं थे। देवनारायण देवता थे, पर युद्ध के दौरान कभी चेटक की देह में तो कभी प्रताप की मति में आकर सुगति का संचार करते। चित्तौड़ के किले पर देवनारायण की जो मंदरी है, प्रताप वहीं देवजी को धोकने जाते। पूर्णतः आस्थान होने के कारण ही देवनारायण उन पर टूटमान हुए और पराक्रमी होने का वर दिया, घोड़ा चेटक दिया और राणा से अधिक महाराणा कहलाने का नाद दिया।

प्रताप ही नहीं, प्रताप के पिता उदयसिंह और उनसे पूर्व महाराणा सांगा भी देवनारायण के प्रति अटूट आस्था लिए थे। सांगा तो अपने पर 80 घाव लिए भी कभी शौर्यविहीन नहीं रहे।

देवनारायण की कृपा से उनसे सीसा ही पी लिया था, इसीलिए कोई घाव उनके शरीर पर असर नहीं कर सका।

चेटक घोड़े का पराक्रमी होना, इस बात का भी सबूत है कि जहाँ-जहाँ भी प्रताप की पधरावणी की गई, उनसे पूर्व चेटक की आरती उतारी गई। युद्धभूमि में खेत हुए मालिक की पहचान कर घोड़ा ही उसकी लोथ अथवा पाग को पीठ पर लादे घर पहुँचाता। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। ऐसे घोड़ों पर या तो रईश बैठते या फिर सईश किंतु सईश उगाड़ी पीठ पर बैठता। कांठी पर बैठना उसके लिए वर्जित रहता। यों घोड़े भी उसे कांठी पलाण पर स्वीकार नहीं करते।

देवनारायण ने यह घोड़ा किसी अदृश्य अलौकिक चमत्कार के रहते दिया। प्रसिद्धि है कि उसके लिए माध्यम घोड़े बेचने वाले को बनाया। यह काबुली वेश में था। इसके पास दो घोड़े थे। उसने राणाजी को घोड़े की

बढ़-चढ़कर बहादुरी का बखान किया। एक घोड़ा चेटक था, जबकि दूसरा खेटक। काबुली अपने घोड़े के पराक्रम की परीक्षा देने मचल पड़ा, ताकि राणाजी को उस पर पक्का विश्वास हो जाय और मुँहमांगी कीमत चुकाने में जरा भी संकोच-संदेह न हो। इसके लिए खेटक को आगे किया गया। एक बड़ी चट्टान पर उसे खड़ा कर दिया गया। चट्टान पर जहाँ-जहाँ उसके पांव रहे, उस स्थान को 6-6 इंच गहरा खोदकर उसमें खेटक के पांव रख सीसा भर दिया गया, ताकि वह जरा भी हिल न सके।

इतने में सबको सावचेत करते हुए घोड़ेवान ने खेटक को जोर का चाबुक मारा। चाबुक मारते ही खेटक चट्टान सहित अपने पाँवों से ऊँचा उठा। महाराणा अवाक् हो यह कौतुकी चमत्कार देखते रह गये और घोड़ा उड़नपंखी बन कहीं अलोप हो गया।

घोड़ेवान बोला- 'हुजूर यह चेटक उस खेटक से भी अधिक सवाया है। आप इसे रखिए। युद्धभूमि में इसका कौशल देख आप मुझे याद करेंगे कि कोई बांका वीर था, जिसने यह घोड़ा दिया। इस घोड़े से आप और यह घोड़ा दोनों कभी पराजय का मुँह नहीं देखेंगे और सदा के लिए अमर रहेंगे। महाराणा ने घोड़ेवान का यथोचित सम्मान करने और मुँहमांगी कीमत देने का आदेश दिया, किंतु वह आदेश पूरा हो उससे पूर्व ही घोड़ेवान जैसे आया वैसे ही चला गया, याकि अलोप हो गया।

चेटक अच्छे पानीस्ये नारियल की धवल उज्ज्वल चटका

रंग लिए था। उसे नजर से बचाने के लिए नीले रंग का हल्का मिश्रण दिया गया था। ऐसे रंगवाला घोड़ा अबलक घोड़ा कहलाता है। चेटक वैसा ही अबलक घोड़ा था। हल्दीघाटी के युद्ध में एक टांग से खोड़ा होने पर भी वह बड़ी स्फूर्ति से भागा। नाला पार



किया, किंतु आगे नहीं बढ़ सका। जिस स्थान पर वह गिरा वहाँ इमली वृक्ष था, जो आज भी खोड़ी इमली नाम से उस घटना का साक्षी बना हुआ है। दरअसल इमली खोड़ी नहीं थी, न ही घोड़ा खोड़ा था, किंतु इमली के साथ मिलने से वह भी स्त्री-वाची हो गया। इस आघात से प्रताप को गहरा सदमा लगा। पास ही सिद्धेश्वर मंदिर में पूजा कर रहे श्रीधर व्यास को बुलाया और मंदिर के पास ही चेटक का स्मारक बनवा, उसकी सेवा-पूजा का जिम्मा सौंपा। प्रताप की तरह राणा सांगा भी देवनारायण की आस्था लिए थे। वे तो अपने गले में देवनारायण का नावा भी धारण किए रहते थे।

देवनारायण बगड़ावतों के वंशज थे। बगड़ावत चौबीस भाई थे, जो बड़े युद्धवीर थे। चौबीस भाइयों के नाम पर अलग-अलग गाँव बसे हुए हैं। ये गाँव भीलवाड़ा जिलान्तर्गत हैं। बगड़ावतों का

मूल पुरुष बाघा था। अजमेर के राजा बीसलदेव के भाई मांडलजी के पुत्र हरिजी शिकार से लौट रहे थे। उनके हाथ में बाघ का सिर था। बड़े सवैरे बूढ़े पुष्कर में नहाती हुई लीला सेवड़ी नामक ब्राह्मणी की दृष्टि बाघ पर पड़ गई कि उसके गर्भ रह गया। फलस्वरूप मजबूर हो हरिजी को उससे विवाह करना पड़ा। समय आने पर लीला ने जिस बालक को जन्म दिया, उसका मुँह बाघ का तथा शरीर मनुष्य का था। वह बाघजी के नाम से चर्चित हुआ। उसे अलग बगीचे में एक खोड़ये ब्राह्मण की देखरेख में रखा गया।

बाघजी बड़े मोटे डीलडौल का था। श्रावण में कई लड़कियाँ बाग में रमने-खेलने आती रहीं। छोटी लड़कियाँ अजूबे बाघजी के साथ घुलमिल गईं। एक दिन बाघजी ने अपनी दोनों भुजाएँ पसारी तो उनकी बाँह में तेरह लड़कियाँ आ समाईं। उनमें बारह उच्च जाति की थीं, जिनसे वे विवाहित हुए। उनमें प्रत्येक के दो संतान हुईं। वे ही चौबीस भाई बाघावत, बाघजी के वत यानी पुत्र कहलाए जो बाघावत से बगड़ावत नाम से जाने गए। वह बची हुए एक लड़की नीची जाति की थी, जिसे खोड़ये ब्राह्मण ने रख ली। उसका नाम संज्या था।

यह कैसा विचित्र योग-संयोग है कि उसी संज्या के नाम से संज्या का उत्सव प्रारंभ हुआ, जो पूरे राजस्थान और मालवा, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, महाराष्ट्र तथा नेपाल तक प्रचलित हुआ। यह कुँवारी कन्याओं का व्रतोत्सव है, जो प्रतिवर्ष श्राद्धपक्ष में प्रतिदिन घर की दीवाल पर गोबर के नाना अंकनों को फूलों से संवारा-सजाया जाकर मनाया जाता है।

इससे पता चलता है कि लोकदेवता किसी के बनाने से नहीं बनते। उनके चमत्कारों की कोई सीमा नहीं। कोई चाहे तो भी उन्हें नहीं समेट सकता। उनके तल-अतल का भी पता नहीं लगा सकता। वे इतने अलौकिक और रहस्यमय होते हैं कि आँखों से देखा जाकर भी हमारे द्वारा उनका सच नहीं पकड़ा जा सकता। वाणी द्वारा सुनते हुए भी उस पर विश्वास का आधार नहीं माना जा सकता। वे दृश्य होते हुए भी अदृश्य और अदृश्य होते हुए भी दृश्यवान होने की सामर्थ्य लिए होते हैं। जो दिखाई देता है, वह वस्तुतः होता नहीं और जो होता है, वस्तुतः वह भ्रम मूलक परिदृश्य होकर हमें किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुँचने देता।

देवनारायण पर बहुत रचा गया है। कई बेनाम स्त्री-पुरुषों ने जो देव के प्रति आस्था और समर्पण लिए रहे, उन्होंने समूह रूप में खूब लिखा, गाया और अपनी भावनाओं का प्रदर्शन भी किया है। रात्रि जागरण-रतजगे पर रात-रात देवनारायण के यश में चर्चरी का शौर्यपूर्ण गान किया जाता है। एक नमूना-

‘जेत जमो, आसमान, पवन, प्राणी, नो लख तारा, पांच पांडू, छठा नाराण की जोत, बारा मेख माला, जर्मी अखण्ड, ओखन्द का देव, पारस पीपल, सांवाला पीवना, संख समन्दर निपजै, गैरी करे आवाज, चाईल, चतरधारी बरान्या, सांकलवालै ठाठ, मेघनाथ बजावे, की ऊदल ने बड़दावे नारद भाट।’

देवनारायण संबंधी कई प्रभातियाँ सुनने को मिलती हैं। प्रातःकाल भोर में गाने के कारण इन्हें प्रभाती नाम से जाना जाता है। इन प्रभातियों में देवनारायण की आराधना स्वरूप महताऊ गान किया जाता है। एक प्रभाती का यह प्रारंभिक अंश-

‘देव दलबल का दास, दुसमण का वैरी, राम व्हेर रावण ने मारियो, लंकागढ़ गैरी, भोजा तणकै बाय आया, लज्जा वांकी राखी, मालासेरी कांकर फूट कंवल निकल्या, हाथां कंवल फूल।’

समूह रूप में गाई जाने वाली आरती में न केवल देवनारायण बल्कि उनसे जुड़े अन्य परिजन तथा उन विशिष्ट शक्ति-स्वरूपों को भी स्मरण किया जाता है, जिनसे सृष्टि चलित फलित होती है। यथा- देवनारायण के भाई, बहिन, घोड़ी, साला, हाथी, नापा ग्वाल, गाय, भाट आदि। इन सबको अवतारी माना गया है।

आरती की प्रारंभिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

*ठाकुर माता भली गरवादेख जीने जसोदा तणी है ओतार।
ठाकुर पिता भला है निर्जनदेव जीने राजा दसरथ तणो ओतार।।*

आरती के अंत में ऐसे कई नाम आते हैं, जिन्हें याद कर आरती स्वरूप नमन किया जाता है। यथा-भुणा का भाई की आरती, मेंदू की आरती, दीपू का वोरा की आरती, छोछू का धाया की आरती, मदना का भाई की आरती, लंगड़िया हनुमान की आरती, ऊजला अन्नदेव की आरती, पातला जलदेव की आरती, माता धरती की आरती, माता कुंता की आरती, ऊगता भाण की आरती, कारसल का भाण की आरती, गुरुदाता की आरती, माता-पिता की आरती, कालीगोरी आरती मालम करज्यो।

देवनारायण संबंधी अधिकतर गीत महिला समुदाय द्वारा गाये जाते हैं। इनका सृजन भी उन्हीं के द्वारा होता है। अच्छी गाने वाली अगुवा गीत की पंक्तियाँ जोड़ती रहती हैं। उसी स्वर-लय में शेष महिलाएँ रंग देती रहती हैं। ऐसे सौ से अधिक गीतों का संग्रह भीलवाड़ा की श्रीमती चन्द्रकांता जोशी ने किया था। उनसे सुना एक गीत नमूनार्थ देखिये-

देवजी दडावट का देवरा थानें देखिया
 देवजी नूत्या पधारो परथीनाथ
 पाट पधारो देवनारायण
 पाट पधारो बेटा भोज का।
 देवजी रमिया-रमिया कुलड़ा रे मांय
 बागा रे मांय पाट पधारो
 देवजी बगड़ावतां रा देवरा थानें देखिया
 देवजी नूत्या पधारो धरतीनाथ, पाट पधारो...
 देवजी रमिया-रमिया फुलड़ा रे मांय
 केवड़ा रे मांय
 पाट पधारो बेटा भोज का।

देवनारायण का पूरा जीवन ही चमत्कारों से, रहस्यों से, अलौकिकताओं से परिपूर्ण रहा। बिना रहस्य चमत्कार तथा अलौकिक शक्ति के कोई देवत्व को प्राप्त नहीं हो सकता। हर देवता के साथ अनेकानेक मिथक जुड़े हैं। जो जैसा फल पाता है, वही उसका मिथक बन लोकार्थ हो जाता है। ऐसे मिथक-दर-मिथक बनते, उस देवता की लोकप्रियता बढ़ाते रहते हैं। उनकी धाम चलती रहती है।

धाम का पक्ष लौकिक है। देवरा स्थापित करना, मूरत की प्रतिष्ठा करना, जागरण करना, जात्रियों का एकत्र होना, देवता का आह्वान करना, ढोल-शंख-थाली-नगाड़े-ढाक जैसे वाद्यों पर देव-गीतों-गाथाओं का गायन देवता को रमता करते हैं। भोपा देवता का घुड़ला होता है, घोड़ा जिस पर सवार हो देवता का पदार्पण होता है। देवता की वाणी कितनी फलित और असरदार होती है, यह घुड़ले पर निर्भर करती है। सवार अच्छा हो तो घोड़ा भी उसके लायक ओपता होना चाहिए। घोड़ा अच्छा हो तो ढुलमुल सवार बौना नजर आता है।

देवनारायण जिसके माध्यम से दर्शन देते हैं, वाणी देते हैं, आशीष देते हैं, फूल-पाती देते हैं, वह कैसा है, यह जानना जरूरी है। उनका घुड़ला उनके अनुकूल हो तब ही वह देवरा, वह धाम और वह देवता अधिक फलदायी, अधिक चमत्कारी, अधिक प्रभावशाली और अधिक लोकप्रिय होगा। जो गादीधारी भोपा या सेवक जितना अधिक धार्मिक आध्यात्मिक जीवनधर्मी होगा, शुद्धचार वाला, अपने मालिक के प्रति पूर्ण आस्थावान, समर्पण भाव लिए होगा, वह उतना ही अधिक प्रभावी होगा। ऐसे देवता भी हैं जिनकी कई पांतों तक भक्तों की बहार है। वहाँ देवरे हैं। गादियाँ हैं। चौकियाँ लगती हैं किंतु एक ही देवता के स्थान होते हुए भी सबके सब एक जैसे प्रभावी नहीं होते। स्पष्ट है, वहाँ उनका प्रतिनिधि मानवधारी भोपा पाट बैठा है, उसके जीवनयापन के तौर तरीके एक जैसे नहीं हैं, इसलिए देवता का प्रभाव भी घुड़ले भोपे के चाल-चलन के अनुरूप ही होता है।

सही तो यह भी है कि कोई देवता समग्र रूप में अपने भोपे के डील में नहीं आता। वह इतना शक्तिवंत होता है कि भोपा उस शक्ति को अपने में समाविष्ट कर ही नहीं सकता, अतः उस शक्ति का अत्यंत लघु अंश ही देखने को मिलता है। शक्ति का यह अंश अल्पांश, अल्प, अत्यल्प, ठीक-ठाक, अच्छा, उम्दा, जोरदार जैसे शब्दों से पहचाना जा सकता है।

ऐसे भोपे अधिक मिलेंगे, जिनमें देवता का भाव होता है, पर स्वयं उनका स्वप्न भी जाग्रत रहता है। मैंने ऐसे सेवक-भोपे बहुत कम देखे, जिनका निजीपन नदारद रहा और वे समग्रतः संपूर्ण रूप में देवता का ही असर लिए रहे। लोकदेवता कल्लाजी राठौड़ के सेवक सरजुदासजी का जिक्र यहाँ प्रासंगिक होगा।

जब सरजुदासजी में कल्लाजी का पदार्पण होता, सरजुदासजी की पलकें उघाड़ी ही अपलक रहतीं। तीन-चार घंटे की गादी में भी मैंने एक बार भी उन्हें पलक झपकते नहीं देखा। उनका दायं पाँव एक सी गति में हिलायमान रहा। देवता के बने रहने तक उनका वृद्ध शरीर पूरे जोशखोश के साथ जवानी का उफान लिए रहता, किंतु देवता के पदार्पण के पश्चात् वे निढाल हो गठरी बने से हो जाते। हम में से कोई उनके पाँव दबाता, कोई कंधा मसलता, कोई पीठ को मजबूती देता। वे आँखें खोलकर जब अपनी निज की स्थिति में आते तो सबको पहचान लेते।

चाय-दूध से सत्कार करते। सबकी समस्या सुनते और देवता के फरमान से परिचित होते। ऐसा होने पर भी सरजुदासजी ने बताया कि देवता की एक-आध किरण पा लेना ही जीवन की सार्थक परिणति है।

कल्लाजी महाराज के इस समय राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, हरियाणा तक एक हजार से अधिक धाम हैं। कुछ धामों का मेरा अध्ययन है, उसके मुताबित 25 वर्ष पूर्व और आज की स्थिति में, उनमें बहुत बदलाव आया है, प्रभाव घटा है जबकि सेवक वही है। जहाँ, जिस धाम का प्रभाव ज्यादा घटा है, वहाँ स्वयं कल्लाजी का पदार्पण नहीं होकर उनका प्रतिनिधि सैनिक पहुँचता है। ऐसा मानव समुदाय में भी होता है।

देवनारायण में अखूत चुनौतीभरा साहस था। ऐसा साहस बिना अडिग संकल्प के बाजी नहीं मारता। यह चुनौती अपने पिता के बैर-शोधन का बदला लेने मात्र की नहीं थी। बदला लेकर यह दिखा देना कि राजा से भी अधिक बलशाली अन्य हो सकते हैं। सत्ता के मद में चूर होकर राजधर्म की पालना से च्युत होना राजा का सुधर्म कदापि नहीं हो सकता ; फिर बैरी का पुत्र कमजोर होने की बजाय कई गुना अधिक शक्तिशाली भी हो सकता है, इस सच को भी गाँठ बाँधे रखना चाहिए।

देवनारायण ने अपने पराक्रम से अपने पिता के यश को द्विगुणित कर पुत्र-प्रभाव को स्थापित किया और आततायियों का मान मर्दन किया। ऐसा ही प्रण-संकल्प राजा मोरध्वज के मौर्यवंश की तेरहवीं पीढ़ी में एक चंद्रगुप्त ने अपने भाइयों से झगड़ा होने पर किया था। कहा- 'यदि अलग से चित्रकूट न बसाऊँ तो असल मरद मत कहना।' उसकी इसी संकल्प वाणी ने चित्रकूट को जन्म दिया। राजस्थान का चित्रकूट चित्तौड़ पूरे विश्व में 'गढ़ा' तो चित्तौड़गढ़ बना हुआ है। प्रताप का हल्दीघाटी युद्ध

भी प्रण-संकल्प युद्ध था। जनकराज ने सीता का भी प्रण-स्वयंवर ही तो किया।

हम लोग हर बात का प्रमाण देखने, चाहने के अभ्यासी हो गए हैं। लोक में ऐसा नहीं है। हम पढ़े-लिखों, आधुनिकों में ही यह सब है। इससे जटिलता ही बढ़ी है। ऐसी जटिलताओं को ही

हमने इतिहास और विकास समझ लिया है। यह विडंबना हमारी है। लोक पक्ष में काम करने वालों की ऐसी कोई विडंबना, झकझकी याकि माथापच्ची नहीं है। लाख प्रयत्न करने पर भी आपको देवनारायण दिखाई नहीं दे सकते। आपका बुद्धि-विकास या विलास उन्हें माने न माने, इससे देवनारायण को क्या फर्क पड़नेवाला है, पर यह सत्य है कि आपकी जो भी अजूबा एवं अप्रत्याशित उपलब्धि है, उसके पीछे किसी न किसी की अदृश्य छाया है। लोक का जो भी क्षेत्र आप चुनें, आस्था के बिना कोई उपलब्धि नहीं मिलती। आस्था से अर्थ अंध श्रद्धा से नहीं, खुले दिमाग से, खुली आँखों से, उन्मुक्त जिज्ञासा और लगन से है।

इतिहास हर क्षण की महत्वपूर्ण घटनाओं का लेखा कर भी नहीं सकता। गोपनीय से गोपनीय घटना-चक्र को कौन चौड़े कर सकता है? क्या जो कुछ लिखा गया, वही सत्य है? रि-सर्च का अर्थ भी यही है, जो कुछ कहा गया, वही सत्य अटल नहीं है, उसे फिर से, फिर-फिर से कुरेदने, टटोलने, शोधने की आवश्यकता है।

देवनारायण का अवतरण हुआ कमल के फूल में; आप इसे कैसे मानेंगे ! तब उनके माता-पिता कौन होंगे। स्वयं देवनारायण ने कई निपूतियों

को पूत दिये हैं। उनके पालने बंधवाये हैं तो उन पूतों के पिता कौन हैं? क्या आपके पास इसका कोई उत्तर है? इसलिए इतिहास वही नहीं जिसके पट्टे परवाने शिलालेख हों। यह नितांत एक गौण पक्ष है। लोक की आस्था और विश्वास खंगालेंगे तो उसमें इतिहास-संस्कृति की अनंत असीम धाराएँ समुन्द्र को अपने में समेटे



मिलेंगी। देवनारायण का मानवीय पक्ष और उसके बाद का देवरूप का पक्ष देखें तो हजारों पृष्ठों में भी उसका लेखन संभव नहीं होगा। यों हमने अभी तक जाना ही क्या है। जो दृश्यवान है, हम उसी को जान लें तो काफी है। अदृश्य तक तो मनुष्य की पहुँच ही नहीं है।

मैं लोकदेवता कल्लाजी की छत्रछाया में पिछले 20-25 वर्षों से अनायास जुड़ गया। उनकी कृपा से कई बार ज्ञानगादी पर वे रहस्यमय बातें जानी जो मानव के लिए संभव नहीं। उनका जन्म नाम केसरसिंह था। माता श्वेतकुंवर ईडर के लक्ष्मिबा चौहान की पुत्री शिव-पार्वती की बड़ी भक्त थीं। पुत्र नहीं होने पर उसने बड़े आत्मभाव से विवाह के अन्तर्वासे का पुतला बनाया और शिव-पार्वती की आराधना में लीन हो गई। ऐसी तन्मयता पाकर शिव-पार्वती ने पुतले में प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। अन्तर्वासा तब केसर में डुबोया जाता था, जिससे उसका रंग केसरिया होता। इसी रंग के कारण बालक ने केसरसिंह नाम धराया। इस दृष्टि से

कल्लाजी जाये नहीं होकर उपाये गये थे। भेरू की कृपा-शक्ति से पाँच वर्ष की उम्र में उन्होंने पूँछ और कान की मरोड़ देकर नौ गजा शेर को पछाड़ दिया।

देवनारायण के ऐसे किस्से अनेक हैं, पर हम कैसे जान पायें ! वे रहस्यमय ही रहेंगे। हम अपने विज्ञान को कितना ही आगे ले जायें, वह रहस्य की परतों को कभी नहीं खोल पायेगा। ऐसे रहस्य जानने के नहीं होते। जान गए तो बताने के नहीं होते। छोटे बच्चे जो अपनी नन्ही उम्र में अपनी पिछली जन्म-गाथा उकेरते हैं, बाद में देवता उसकी बुद्धि हर लेते हैं। हमारे हाथ में कुछ है भी नहीं।

हमारे यहाँ कहा गया है- भोजन, भजन और भोग ; ये तीनों एकान्तवासी हैं। आप देख रहे हैं, अब ये सब खुले-खुले हो गए हैं तो इसके परिणाम भी मनुष्य भोग रहा है, तब भी देवनारायण हम सबमें बने रहें। उनमें हमारी आस्था बनी रहे। वे हमारा, सबका, सर्वजन का कल्याण करें।

बघेली आख्यान- देव मदाइन

बाबूलाल दाहिया

देव मदाइन विन्ध्यक्षेत्र के किसी अनाम रचनाकार द्वारा रचा गया आख्यान है। इसमें लगभग 38 दोहेनुमा छन्द हैं। दो पंक्तियों के अनुशासन में बँधे यहाँ की समन्वयवादी लोक परम्पराओं से ओत-प्रोत इस आख्यान पर लिखने के पहले यहाँ की भौगोलिक स्थितियाँ और सामाजिक संरचना को देखना आवश्यक है।

अनेक पहाड़ियों, घाटियों और सघन वनों से आच्छादित यह आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र वैदिककाल में करुष जनपद नाम से जाना जाता था। करुष का आशय था- अभावग्रस्त, पर यह परिभाषा नैसर्गिक ढंग की जीवन शैली जीने वाले यहाँ के जन समुदाय की नहीं, बल्कि उन आक्रान्ताओं की थी, जो अधिक अन्न उपजाने वाले गंगा-जमुना के कछार और पंचनद के भू-भाग में अपना आधिपत्य जमा चुके थे और उनके लिए यह भू-भाग महत्त्वहीन था।

वैदिक काल की यह अभावग्रस्तता मध्यकाल में भी उसी तरह रही, जिसे इस किंवदंती से भली-भाँति समझा जा सकता है- कहते हैं नया बन्दोबस्त करते समय बादशाह अकबर ने अपने अधीनस्थ सभी राजाओं से उनके काबिल कास्त जमीन की जानकारी और उसका नजरी नक्शा पेश करने का फरमान जारी किया। हुक्म तामील होते ही राजे-महराजे, नवाब दिल्ली दरबार में हाजिर हुए और अपने-अपने कृषि भूमि की हदबन्दी में नजरी नक्शा प्रस्तुत करने लगे। उस दरबार में तत्कालीन रीवा नरेश भी शामिल थे। जब उनकी बारी आई तो रेशमी वस्त्र में बँधा एक सूखी तरोई का फल प्रस्तुत कर दिया। अकबर ने नाराजगी जताते हुए कहा- 'हमने आपसे काबिल कास्त जमीन की जानकारी और उसका नजरी नक्शा लाने को कहा था, पर आप हमें सूखा गिलकी का फल दिखा रहे हो?'

रीवा नरेश ने कहा- 'बादशाह आलम गुस्ताखी मुआफ हो, रीवा रियासत का असली नक्सा यही है।' अकबर ने आश्चर्यचकित होकर कहा- वह कैसे?'

रीवा नरेश तरौई के उभरे हुए भाग को दिखाते हुए कहा- यह रियासत के पहाड़ और घाटियाँ हैं और यह जो गहरी धारियाँ हैं, वह उसके नदी-नाले हैं तथा यह जो ढाल ढलान वाला हिस्सा है वह जंगल और मैदान हैं, जिसे साफ करके कोदो कुटकी, सांवा, मक्का आदि की खेती की जाती है।

अकबर अपने वजीर की ओर मुखातिब होकर बोला- 'लाहोल बिला कूव्वत। रीवा रियासत वाकयी बहुत गरीब है। बजीरे माल गौर फरमाये और ऐसी लगान लगाने से परहेज बरते, जिससे रियासत और तकलीफजदा बने।

इस किंवदंती में कितनी सच्चाई है। यह भी बादशाह अकबर के साथ जुड़े अन्य लतीफों की तरह किसी गपोड़े की कपोल कल्पना है? पर यह बात निर्विवाद है कि जो क्षेत्र जितना अभावग्रस्त और शहरी संस्कृति से दूर रहता है, उसकी लोक संस्कृति उतनी ही समृद्ध होती है। क्योंकि जहाँ कलम कागज का उपयोग नहीं होता, वहाँ के लोग अपनी संस्कृति और परम्पराओं को कहावतों, लोकगीतों आदि में ढालकर जीवित रखते हैं और वह समय पर लोक कंठों से प्रवाहित होता रहता है।

दसवीं शताब्दी के पहले इस क्षेत्र में आदिवासी राजाओं के ही छोटे-छोटे राज्य थे, जिनमें राजा भी आदिवासी और प्रजा भी आदिवासी। खेती सीमित थी। व्यापार संस्कृति का तो कहीं नामोनिशान तक नहीं था। समाज में समानता, सामूहिकता और आत्म-निर्भरता थी। महुआ बहुउद्देशीय वृक्ष था, जिसके फल से तेल और फूल से लाटा डोमरी, फरा, मुरकुण्डा, रसवीर मौहरी आदि कई प्रकार के व्यंजन बनाये जाते थे। फूल से ही मदिरा नामक एक पेय तैयार होता था, उसे सामाजिक मान्यता प्राप्त थी और वह विवाहोत्सवों, जातीय सभा सम्मेलनों, त्योहारों यहाँ तक कि मृत्यु तक में परोसा जाता था तथा पूर्वजों को अर्पण किया जाता था।

कालांतर में यहाँ उत्तर और पूर्वी भाग के सीमावर्ती क्षेत्रों से कुछ कृषक और पशु चारण करने वाली जातियाँ बसने लगीं। उनकी सहयोगी तेली, कुम्हार, बढ़ई, लोहार, चर्मकार, नाई,

धोबी आदि जातियाँ भी आईं। पर इन सबके बीच भी मदिरा का महत्त्व यथावत बना रहा और इन जातियों में भी कुछ जातियों की जातीय पंचायतों में उसका प्रचलन उत्तरोत्तर बढ़ता गया। कुछ समय पश्चात् तो यहाँ मदिरा उतारने वाली एक जाति का ही प्रादुर्भाव हो गया, जो अपनी कलारी कार्यशाला में इसका अर्क उतारकर व्यापार करने लगी।

देवी-देवताओं को तर्पण और हैजा महामारी, सर्दी, जुखाम, निमोनिया आदि की उपयोगी औषधि हो जाने के कारण उसे देव मदाइन नाम से पुकारा जाने लगा। कालांतर में उसका इतना महत्त्व बढ़ा कि इन तमाम जातियों द्वारा उसे मण्डप के नीचे साक्षी के रूप में रखकर वर-वधू विवाह के सात फेरे भी लेने लगे, जिसका प्रचलन आजादी के शुरुआती दौर तक चलता रहा।

देव मदाइन सम्भवतः उसी कालखण्ड की रचना है। इस आख्यान के मूल में बड़खरे नाम के एक राजा हैं, जिनके राज्य में विवाह योग्य अनेक कन्यायें हैं, पर धरती से देव मदाइन के रूठ के चले जाने के कारण उनका विवाह नहीं हो पा रहा था। इसलिए राजा की चिंता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। राजा अपनी व्यथा कथा बह्ना जी को सुनाते हैं। अब आगे की घटना देव मदाइन आख्यान में देखें।

रचनाकार

बोले राजा बड़खरे सुना हो बह्ना देव।
धरती मा कन्या बढ़ी मोहि आवै रात न नींद।।

राजा

को उपजा दशमास क बेटा, धरिस धरनियन पांव।
जउन लया वैदेव मदाइन, रचौ कुमारिन ब्याह।।

बह्ना

अरजुन उपजा दशमास क बेटा, धरिस धरनियन पांव।
उन्है लयाबै देवमदाइन, रचौ कुमारिन ब्याह।।

राजा

जा भिम्मा के धामन धउआ, जा अरजन के वान।
होत भोर भिनसारे, पहुँच इन्द्र के द्वार।।

द्वारपाल

केखर आह्या धामन धउआ हा केखे तुम बान,
कउन जरबं अस तोहई परगै, पहुंच इन्द्र के द्वार ॥

संदेश वाहक

भिम्पन के हम धामन धउआ, हन अरजुन के बान,
हमही चाही देव मदाइन, रचै कुमारिन ब्याह ॥

इन्द्र

कइसन देई देवमदाइन, आय सरग कै चीज ।
कइसन मठई मिरत लोग मा, हुँआ धरम नहिं आय ॥
तुम्ही मदाइन देव न धउआ, तुम अंतरेन मा पी जा ।
जाय पठाया अरजुन भिम्मै, लइ जाय बांह चढ़ाय ॥

अर्जुन

काहे लउट्या धामन धउआ, काहे लउट्या बान ।
का कहिन उंय सरग के राजा, केतर करिन बेउ द्वार ॥

सन्देश वाहक

हमी तो जइसै पनहिन मारिन, तुहूक भरिन तुकार ।
देव मदाइन दिहिन हमही, तोहरै करिन बोलाव ॥

रचनाकार

भिम्म पलादै हाथी, अरजुन आपन घोड़ ।
होत भोर भिनसारे ठाढ़ इन्द्र के द्वार ॥

अर्जुन

पामर केरे पहरूआ पवन पतंजा धाय ।
इन्द्र न खतर सुनाबा, दुइ मन्नुख ठाढ़ दुवार ॥

रचनाकार

होन से भगे पहरूआ इन्द्रन के ढिग जाँय ।
आपन अरज सुनामै दुइ मन्नुख ठाढ़ दुवार ॥

इन्द्र

कउन बरन उंय मन्नुख है काहेन असवार ।
कउन मांग उंय मांगे हैं काहेन मा ठाढ़ ॥

पहरूआ

गउर बरन दोउ मन्नुख, हाथी घोड़ असवार ।
इन्द्र इन्द्र कै रटन लगाये ठाढ़ है पमर दुवार ॥

इन्द्र

शेष नाग कै गोड़री दिहा बइठका जाय ।
अरजुन होई त बइठी उपही भगी डेराय ॥

रचनाकार

बइठैं का उठकइयां अरजुन बइठे पलथीमार ।
होंय चड़ाचड़ असुरी पसुरी छड़िस नाग चिहाड़
विनती करै नगिनिया अरजुन से कर जोर ।
तीन लोक के ठाकुर, तुम राखा मोर अहिबात ॥

अर्जुन

ना मन चिन्ता कीन्हया नागिन ना मन धरा खम्हार ।
हमही दइद्या देव मदाइन, रची कुमारिन ब्याह ॥

नागिन

बीच समुन्दर दिपिया, ओही कै लहलह दूब ।
होंई बसाथी देव मदाइन, लइ आबा बांह चढ़ाय ॥

रचनाकार

होन के चले हैं अरजुन पहुंच दीप मा जाय ।
चला चला तुम देव मदाइन, बहुवै चाह तोहार ॥

देव मदाइन

तोरे देश न जाव रे अरजुन हुआ धरम नहि आय ।
जेठ न मानै मयऊ बस्हन न मानै गाय ॥

अर्जुन

चला चला नुम देव मदाइन बहुतै चाह तोहार ।
लीप पोत मड़ये तर घरबें करनवै मान विचार ॥

देव मदाइन

तोरे देश ना जान रे अरजुन होन नहि मान बिचार ।
सास लिपै बहु कचरै, धरम कहां से होय ॥

अर्जुन

चला चला तुम देव मदाइन बहुतै चाह तोहार।
जउन जउन तुम कहिहा मानव बात तोहार।।

रचनाकार

हुआं से चली मदाइन मैं महुआ तर ठाढ़।
कोऊ अड़ानै डबुला डबुली, कोऊ दोनमन मा भर लेय।।

कुम्हार

कहना पाई थाप थप उना कहाँ चाक औ पींड।
कहना पाई सूघर धनिया, जउन बिनै घोड़ उनन लीद।।

ग्रामवासी

हमिन देवउबै थाप थपउबा हमिन चाक औ पींड।
तोरेन घर मा सुघर धनिया, बिनै घोड़ उनन लीद।।

कुम्हार

नहीं लोह लोह सारे नहीं अगिन संसार।
नही बिंझ बिच कोइला को भल गढ़ै कुदार।।

लोहार

हबै लोह लोह सारे हबै अगिन संसार।
हबै बिंझ म लकड़ी को इला, हम भल गढ़ब कुदार।।

कुम्हार

खईंची काउन खलइता को करी लोह हमा ताव।
काहे कै बनई शंशी को हनी घनन के छाव।।

लोहार

गउरा खिचिहैं खलइता महादेव करिहैं ताव।
शेष नाग कैशंशी, हुनहनै घनन के छाव।।

रचनाकार

बन कुदरा समतूल झा, डार बढइया ब्यार।
कुम्हार बेटउना माटी खोदै, सातौ सुदिन मनाय।।
वनमाटी समतूल मैं, चाक दिहिस लपटाय।

कुम्हार बेटउना भांबै, करई मटकी उठी महराय।।

करई कहै कुम्हार से छोटी-छोटी लोई काट।

बीच सभा मा नचिहैं मोर परी लोलरिया नाव।।

पहिले बनबै मयका भरकी, पुन करई करै तयार।

सुखै सुखै आबा घरै पुन पकमै मा चित देय।।

बन करई समतूल मैं, पहुँच सभा के माझ।

देव मदाइन जह धरै, सभा-सभा फिर जाय।।

इस तरह देवमदाइन के धरती में अवतरण की कथा कमोवेश उसी तरह है, जैसे भगीरथ के स्वर्ग से गंगा उतारकर लाने की है और इसीलिए तमाम जातियाँ इसे मदाइन गंगा नाम से पुकारती थीं।

इस गीत कथा में शिव-पार्वती का उल्लेख होना, इस क्षेत्र में लम्बे समय तक शैव मत का प्रभाव माना जा सकता है, जो लोक मानस में यहाँ के लोक देवता के रूप में संकट के समय सबकी मदद करते हैं और पांडवों का जनमानस में प्रतिष्ठित होना उनका वनवास के समय लम्बे समय में विन्ध्य क्षेत्र में विचरण का कारण हो सकता है।

भावार्थ

रचनाकार - राजा बड़खरे ने ब्रह्मा से कहा कि- हे ब्रह्म देव महाराज! धरती में इतनी विवाह योग्य कन्या हो गई हैं कि मुझे चिन्ता के कारण नींद नहीं आती।

राजा - इस धरती में दस माह में पैदा होने वाला कौन सा पराक्रमी है, जो स्वर्ग से देव मदाइन उतारकर ले आये, जिससे कुँवारी कन्याओं का विवाह किया जा सके।

ब्रह्मा - इस धरती में पराक्रमी अर्जुन ही दस माह में पैदा होने वाला मनुष्य है, जो स्वर्ग से देव मदाइन ला सकता है और कन्याओं के विवाह में मददगार बन सकता है।

राजा- हे भीम के संदेश वाहक और अर्जुन के बाण! जाओ और यहाँ की समस्या भोर तक पहुँचकर राजा इन्द्र को सुनाओ।

द्वारपाल - तुम किसके संदेश वाहक और किसके बाण हो? तुम्हें ऐसा क्या जरूरी काम पड़ गया, जो इन्द्रदेव के पास आना पड़ा।

संदेशवाहक - हम भीम के संदेश वाहक और अर्जुन के बाण हैं। हम यहाँ देव मदाइन लेने के लिए आये हैं, जिससे मृत्यु लोक में कुँवारी कन्याओं का विवाह हो सके।

इन्द्र - तुम्हें हम देव मदाइन कैसे दें? यह स्वर्ग की वस्तु है, मृत्यु लोक में कैसे जायेगी? जहाँ धर्म का अभाव है और तुम्हें तो वैसे भी नहीं देंगे, क्योंकि क्या पता तुम बीच में ही पी जाओ। अर्जुन-भीम को यहाँ पठवाओ, वे पराक्रम से बाँह चढ़ाकर ले जायें।

अर्जुन - संदेश वाहकों, तुम खाली हाथ क्यों लौट आये? स्वर्ग के राजा इन्द्र ने क्या कहा और तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?

संदेशवाहक - वहाँ का हालचाल क्या है? हमें तो जैसे उन्होंने पनही मारकर भगा दिया हो और आपको भी अपशब्द बोलते हुए कहा- अगर अर्जुन में पराक्रम है, तो भुजा उठाकर ले जाये।

रचनाकार - भीम ने अपना हाथी सजाया और अर्जुन घोड़े को तैयार कर सुबह भोर में ही दोनों इन्द्र के द्वार पर पहुँच गये।

अर्जुन - ऐ द्वार के पहरेदार! तुम वायु की गति से जाओ और महाराज इन्द्र को खबर पहुँचाओ कि दो मनुष्य द्वार पर आपकी प्रतिक्षा में खड़े हैं।

रचनाकार - पहरेदार वहाँ से तेज गति से भागे और इन्द्र को समाचार दिया कि दो मृत्यु लोकवासी आपकी प्रतीक्षा में खड़े हैं।

इन्द्र - वे दोनों मनुष्य किस रंग के हैं, किस पर सवार होकर आये हैं। क्या माँगते हैं और कहाँ खड़े हैं?

पहरेदार - दोनों मनुष्य गोरे रंग के हैं और हाथी-घोड़े पर सवार हैं। वे इन्द्र से मिलने की रट लगाते, बाहरी दरवाजे पर खड़े हैं।

इन्द्र - तुम उन्हें शेषनाग को गोनरी की तरह लपेटकर आसन के रूप में देना, अर्जुन होगा तो बैठ जायेगा और अगर कोई गैर होगा तो डरकर भाग जायेगा।

रचनाकार- अर्जुन को जमीन में पैर रखकर शेषनाग के ऊपर बैठना चाहिए, पर वे पालथी मारकर बैठ गये। अर्जुन के भार से शेषनाग चिल्ला उठा और नागिन विनती करने लगी कि- हे तीन लोक के ठाकुर! मेरे अहिवात की रक्षा करो।

अर्जुन - नागिन तुम किसी तरह की चिन्ता मत करो, बस हमें देवमदाइन का पता चाहिए, जिससे कुँवारी कन्याओं का विवाह हो सके।

नागिन - बीच समुद्र में एक द्वीप है, जहाँ हरी-हरी घास फैली हुई है। वहीं पर देव मदाइन का वास है, अगर आपमें पराक्रम है, तो वहाँ जाकर ले आओ।

रचनाकार - वहाँ से चलकर अर्जुन उस द्वीप में पहुँचे और देव मदाइन से बोले कि तुम्हारी मृत्यु लोक में बहुत चाह है, तुम वहाँ चलो।

देव मदाइन - अर्जुन मैं तुम्हारे देश नहीं जाऊँगी, क्योंकि वहाँ धर्म नहीं है। न तो जेठ अपनी अनुज वधू का सम्मान करता है और न ही ब्राह्मण गाय को मानते हैं।

अर्जुन - हे देव मदाइन! तुम मृत्युलोक चलो, वहाँ तुम्हारी बहुत बड़ी आवश्यकता है। हम तुम्हें आँगन को लीपपोत कर मण्डप के नीचे रखेंगे और तुम्हारे मान-सम्मान का पूरा ध्यान रखेंगे।

देवमदाइन - हे अर्जुन! मैं तुम्हारे देश नहीं जाऊँगी, क्योंकि वहाँ मान-मर्यादा कुछ नहीं है। सासू आँगन लीपती है और बहू उसे पैर से कुचलने चलती है, ऐसे में धर्म कैसे होगा।

अर्जुन - देव मदाइन! तुम चलो, तुम्हारी बड़ी चाह है, जो-जो तुम कहोगी, हम लोग उसका पालन करेंगे।

रचनाकार - वहाँ से मदाइन चल पड़ी और एक महुआ के पेड़ के नीचे खड़ी हो गई। मदाइन को आया देख कोई तो डबुले-डबुलियों में भरने लगे, तो कुछ लोग पत्ते-दोना दोनियों में ही भर- भरकर पीने लगे।

ग्रामवासी - ये कुम्हार के छोकरे तू टोकनी में साग भाजी एकत्र कर रहा है। इस साग की टोकनी को रख और मिट्टी सानकर उसका लोंदा तैयार कर, जिससे बड़े बर्तन बन सकें।

कुम्हार छोकरा - मैं बर्तन तो बना सकता हूँ, किन्तु मुझे बर्तन बनाने वाली सामग्री थापा, चाक आदि कहाँ मिलेंगे और वह सुंदर पत्नी कहाँ मिलेगी, जो मिट्टी में मिलाने के लिए घोड़े की लीद एकत्र कर सके।

ग्रामवासी - हम तुझे थापा और चाक वगैरह दिलवा देंगे और सुंदर पत्नी तो तेरे घर में ही है, जो घोड़े की लीद बिन लायेगी।

कुम्हार- न तो लोहसार में लोहा है और न कहीं आग दिख रही, फिर कैसे बर्तन तैयार होंगे और इस विन्ध्य के पर्वत में कोयला भी नहीं है तथा कोई ऐसा कारीगर भी नहीं दिखता जो कुदाल बना सके।

लोहार - मेरे लोहसार में लौह धातु है। विन्ध्य पर्वत में कोयला लकड़ी भी है और कुदार तो मैं गढ़कर दे दूँगा।

कुम्हार - लोह को गर्म करने के लिए खलैता (चमड़े की पंखी) कौन चलायेगा, कौन लौह को गर्म करेगा और घन चलाकर उसकी पिटाई कौन करेगा? तथा लोहा पकड़ने के लिए शंशी किसकी बनेगी।

लोहार- गौरा (पार्वती जी) खलैते से हवा करेंगी और महादेव उसमें गरम करके ताव चढ़ायेंगे तथा उसे पकड़ने के लिए शंशी शेषनाग की बनेगी और घन महाबली हनुमान चलायेंगे।

रचनाकार - इस तरह कुदाल बनकर तैयार हो गई। बढई ने उसमें लकड़ी का बेंट डाल दिया और कुम्हार छोकरा सातों देवताओं का नाम लेकर मिट्टी खोदने लगा। अब मिट्टी सनकर तैयार हो गई तो उसकी पिंडी चाक में लपेट दी गई और जैसे ही कुम्हार ने चाक को घुमाया मटकी-करई बन-बनकर तैयार होने लगी। करई ने कुम्हार से कहा कि छोटी-छोटी पिंडी काटकर मुझे तैयार करो, मैं सभा सम्मेलनों में इस हाथ से उस हाथ नचूँगी और मेरा नाम लाड़ली होगा।

कुम्हार ने देवमदाइन रखने के लिए पहले मटके और मटकी बनाया फिर उसे पीने के लिए करई 'कुल्हड़' तैयार किये और उन्हें सुखा-सुखाकर अंदर रखकर आया (भट्टा) में लगाने की तैयारी करने लगा। करई और मटकी बन-पककर तैयार हो गये और करई 'कुल्हण' वहाँ नचने लगे, जहाँ-जहाँ सभा सम्मेलनों में मटकी में दारू रखी गई।

पवारी गीतों में सावन

गोपीनाथ कालभोर

भारतीय समाज में श्रावण-मास को धार्मिक आस्था तथा ईश्वर विश्वास का सबसे महत्वपूर्ण माह माना जाता है। यह बरसात की रिमझिम फुहारों तथा उत्सवों व त्योहारों का मास भी है। गुरुपूर्णिमा (अखाड़ी) से ही धार्मिक पर्वों की शुरुआत हो जाती है और फिर श्रावण के प्रथम सोमवार से भोले भण्डारी शिव की अर्चना मंदिर-मंदिर में होने लगती है। लोक जीवन में लोकोत्सव के रूप में गाँव-गाँव में पेड़ों पर झूले बंधने लगते हैं। बेटियाँ अपने हाथों पर मेहंदी रचाने लगती हैं और उनके मुख से सावन गीतों की स्वर लहरी विभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकारों के गीतों के रूप में फूट पड़ती है-

सतपुड़ान्चल में बसे ग्रामों में पवारी लोक जीवन और उनके लोक-साहित्य की गीत विधा युवतियों के होठों पर कंठों से निकल पड़ती है, जैसे- सावन के झूला गीत, मेहंदी गीत, भाई को संदेशा, भाई के नाम बहिना की पाती, घट्टी गीत में भाई की पुकार आदि हैं।

झूला गीत

सावन की पहली फुहार के साथ घर-परिवार की बेटियाँ व बहुएँ-आँगन में झूला बाँधने की जिद करने लगती हैं। घर की सयानी उन्हें समझाती हैं कि तुम्हारे काका व भाई आयेंगे, तो हम चौगान के वृक्ष पर दोर का झूला बाँधवा देंगे। यदि तुमको धीरज न हो

तो खुद ही झूला बाँध लो। इस भाव को रात्रि में मेहंदी लगाते समय बेटी तथा बहू निम्नानुसार गाती हैं-

कहाँ सी लाऊँ डाण्डी व डोरी
कहाँ सी लाऊँ दोऊ खम्भ।
राजली, रामजी खेले वन भोगे।

बहन की पीड़ा को लोक-गायिका गीतों में इस तरह से कहती है कि मैं झूला बाँधने के लिए कहाँ से रस्सी और डाण्डी लाऊँ। झूला बाँधने के लिए दो खम्बे कहाँ से प्राप्त करूँ। इस पीड़ा को दूर करने का उपाय उसकी सहेली बताते हुए कहती है- कि तू कजली वन से डाण्डी व डोरी माँग तथा वृन्दावन से झूलने के लिए दो खम्भ लेकर आ।

कजली वन सी लाहूँ डाण्डी व डोरी
बिन्दावन सी लाहूँ दोऊ खम्भ राजली
राम जी खेले वन भोगे।
कोकी ते झूलहे बहू ओ बेटी
कोकी झूलहे बिरजा नार राजली
राम जी खेले वन भोगे।

बहन का कहना है कि मैं सावन के झूले के लिए कजली वन तथा वृन्दावन से खम्बे तो ले आऊँगी, किन्तु जब झूला बाँधेगा तो उस पर मैं किसे बिठाऊँगी। उत्तर मिलता है कि -

राम की झूलहे बिरजा नार, राजली
रामजी खेले वन भोगे।।

हे सखि! तुम तो झूले की डाण्डी, डोरी व खम्बा ले आओ। तुम जो झूला बाँधोगी, उस पर राम की पत्नि (नार) सीता झूलेगी, इस तरह सावन के झूलों को देख-देख रामजी आनन्दित हो उसका सुख भोगेंगे।

मेहंदी गीत

सावन मास में जब बहुएँ अपने मायके जाती हैं या फिर ससुराल जाने के पहले वे अपने हाथ-पैरों पर मेहंदी का श्रृंगार करती हैं। जब मेहंदी रचती है तो उस के जन्म, इतिहास तथा उसे

घर लाने तक की कथा को गीत के माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं।

कहाँ सी मेहंदी ऊबजी कहाँ लियो अवतार
मेहंदी राछड़ी मोरे लाल।।
स्वर्ग सी मेहंदी ऊबजी, धरती लियो अवतार
मेहंदी राछड़ी मोरे लाल।।

गीत में मेहंदी को स्वर्ग की उपज और धरती पर उसका अवतार (जन्म) हुआ, यह माना है। जब मेहंदी अच्छे से धरती पर ऊग गई तो घर की बहू-बेटी उसके पत्ते तोड़ने गईं। युवतियों ने मेहंदी वृक्ष के पत्ते तोड़े (खूड़ना) और उन्हें डल्ले में डालकर ओसारी में रख दी। इसका वर्णन गीत में इस प्रकार है-

सावन महीना मेहंदी को, गोरी खुड़य एक एक पान
मेहंदी राछड़ी मोरे लाल।
खूड़ी-खूड़ाई उल्ला भरी, घर दी ओसारी माँझ
मेहंदी राछड़ी मोरे लाल।

मेहंदी अच्छी लाल रंग की रची जा रही है। उस मेहंदी के एक-एक पत्ते को तोड़कर कोई गोरी डलिया में डालकर ले आई है। उसने बैठक कक्ष (ओसारी) में लाकर पत्ते रख दिये। उसे पीसने की व्यवस्था के लिए गोरी क्या कहती है, यह गीत में देखें-

कहाँ सी लाऊँ सील ओ सिलौटा, कहाँ सी लाऊँ दोऊ बाँट
मेहंदी राछड़ी रे मोरे लाल।।
गंगा सी लाऊँ सिल ओ सिलौटा, जमुना सी लाऊँ दुई बाँट
मेहंदी राछड़ी रे मोरे लाल।।

गोरी (नायिका) कह रही है कि मेहंदी के पत्तों को पीसने के लिए सील व सिलौटा (लोढ़ा) कहाँ से लाऊँ। गोरी कहती है कि गंगा से सील व सिलौटा ले आ और मेहंदी का बाँट करने के लिए जमुना जी से दो बाँट ले आ। सील-सिलौटा व बाँट ले आने के पश्चात् जैसे-तैसे मेहंदी को महीन पीसा (बाँटना) जाता है। नायिका श्रृंगार किए हुए है, जब वह मेहंदी बाँटती है तो नाक की नथनी बार-बार झूलती है (झोला खाना)। मेहंदी बाँटकर हो गई

तो एक बाटका (बड़ी कटोरी) में भरकर कोठी के अंदर उसने रख दी। नायिका अपने पति के लिए मेहंदी का श्रृंगार कर रही है, वहाँ उसका देवर भी आ जाता है। देवर-भाभी दोनों ही बँटी हुई मेहंदी लगाने लगते हैं। देवर अपनी चिल्हंगठी (छोटी ऊँगली) में मेहंदी लगा रहा है और भौजाई अपने दोनों हाथों में मेहंदी रच रही है।

दिवर्या लगाये चिली अँगठी, भौजी लाये दुई हाथ
मेहंदी राछड़ी रे मोरे लाल।।
दिवर्या बताये अपनी माय सी,
भौजी काहे बताय
मेहंदी राछड़ी रे मोरे लाल।

देवर-भौजाई दोनों ही मेहंदी लगाते हैं, परन्तु देवर हाथ की छोटी ऊँगली में लगाता है और भौजाई दोनों हाथों में। देवर मेहंदी लगाकर अपनी माँ को दिखाते जाते हैं, लेकिन भौजाई पति के घर पर न होने के कारण किसे दिखाये। वह मन मसोसकर रह जाती है। मेहंदी के इस गीत में पंक्तियाँ और हैं। मेहंदी बाँटते व रचते-रचते घर की रनिया (बहू) कुछ दूसरा छंद भी कह लेती है, गीत तब समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार मेहंदी लगाने तथा सावन में अपने स्वामी के लिए सजने का महत्त्व पवारी लोक जीवन में कुछ अलग ही है। सावन के महीने में ही नागपंचमी तथा राखी व भुजलिया का त्योहार भी आता है। इन त्योहारों पर नवविवाहिता बहनें अपने भाईयों की प्रतीक्षा करती हैं। विशेष तौर पर भाई नागपंचमी पर अपनी बहन के घर रोटी (पकवान) लेकर जाता है।

संदेशा गीत

सतपुड़ान्चल क्षेत्र के लोक जीवन में यह परम्परा है कि ससुराल में रहने वाली बहनों को सावन के महीने में भाई लेने आते हैं। बहनें गीतों के माध्यम से अपने भाईयों को यह संदेशा भेजती है कि हे वीरा! सावन आ गया है, बहन को लेने आओ। इस क्षेत्र में यह भी परम्परा है कि नागपंचमी पर भाई अपनी बहन के घर पंचमी पर बनने वाले पकवान तथा रोटी लेकर जाते हैं। गुजिया, पापड़, पूड़ी, भजिए स्वादिष्ट सब्जी व हलुआ तथा खीर

आदि रखकर बहन के घर पहुँचते हैं। इसी माह में जिन बहनों का नया-नया विवाह हुआ होता है, उनका भुजलिया-उजाने का कार्यक्रम भी रक्षाबंधन के दूसरे दिन सम्पन्न किया जाता है। अतः सावन में एक साथ तीन त्योहार मनाने के लिए बहनें अपने भाईयों को इस तरह संदेशा भेजकर कहती हैं-

बहन - अखाड़ी आई वीर सावन रे,
बहनी लेनअ ख आव

भाई - मते कसो आऊ बहिन लेनअ खओ,
मराअ घरऽ धान बुवाय।

बहन - धान बोहे तोरो बरसाल्या कि बहिनी लेनअ ख आव।
धान नीन्धे तोरो बरसाल्या कि बहिनी लेनऽ ख आव।।

भाई - मऽ कसो आऊ तोखऽ लेनऽ ख,
बहनी मरोऽ घरऽ छवाटा

बहन - घर छवाहे तोरो बरसाल्या कि बहनी लेनऽ ख आव।

भाई - म कसो लेनऽ ख आऊ मरीऽ
अंगरेजी टोपी भींग जाय।।

श्रावण मास का पहला त्योहार अखाड़ी (गुरुपूर्णिमा) आता है, फिर नाग-पंचमी और राखी तथा भुजलिया। इन तीनों ही पर्वों को मनाने की इच्छा से बहनें अपने भाईयों को संदेशा भेजती हैं, परन्तु भाई अपनी असमर्थता बताते हुए कहता है कि मेरे खेत में धान बोई जा रही है, मेरा घर छाया जा रहा है और मेरा अंग्रेजी रहन-सहन वाले ठाठ-बाट को धक्का लगेगा। इस तरह के बहाने भाई बनाता है। बहन कहती है कि ये सारे काम बरस-भर के लिए रखा तुम्हारा नौकर (बरसाल्या) करेगा, तुम तो बहिन को लेने आओ।

यहाँ पर भाई का बहाना, इसलिए है क्योंकि बहन के माता-पिता नहीं हैं और बहन को आशा है कि भाई अवश्य लेने आयेगा। परन्तु जब भाई अंग्रेजी टोपी के भींगने का बहाना करता है तो बहन स्वर्ग (आकाश) में उड़ती चील को अपना संदेशा लेकर आने को कहती है। लोक-गीत में उसके भाव निम्नानुसार अभिव्यक्त होते हैं-

सरग उड़न्ती चिड़ौली, वीरा सावन रे
 एक संदेशा लेई जा गुलाबी रंग सावन रे ॥
 बाप भर्यो ओकी खोय मुड़ी वीरा सावन रे
 टूट्यो रे चवरी को ख्याल, गुलाबी रंग सावन रे ॥
 सरग उड़न्ती चिड़ौली, वीरा सावन रे
 तीन सन्देशा लेई जा, गुलाबी सावन रे।
 माय मरी ओकी खोय मुड़ी वीरा सावन रे।
 टूट्या रे रेटडूया को ख्याल गुलाबी रंग सावन रे ॥

गीत में बहन अपने भाई (वीरा) को सावन का संदेशा स्वर्ग में उड़ रही चिड़िया (चिड़ौली) द्वारा भेजती है। जिस भाव-भूमि पर गीत जन्मा है, उस पर बहन को रह-रहकर अपने बाबुल के घर-आँगन का बचपन याद आता है। भाई से वह संदेश में कहती है कि पिता (बाप) के मरने के बाद से तो उनकी याद भी दिल से खत्म हो गई है और उस चवरी का ख्याल भी अब टूट चुका है, अर्थात् घर आने का रास्ता ही बंद हो गया है, लेकिन हे भाई! रंगीला सावन मुझे बार-बार याद आ रहा है। हे स्वर्ग में उड़ने वाली चिड़िया (चील)! तुम मेरे भाई को तीसरा संदेशा यह देना कि सावन आया है तो कम से कम मुझे लेने आ जाये। माँ की मृत्यु के पश्चात्- हे भाई! मेरा तो घर के (टेटूड्या) रहट से भी सम्बन्ध टूट चुका है। इस संदेश में बहन की वेदना है, एकाकीपन है और ससुराल में मिल रही उपेक्षा का भाव है। सावन के गुलाबी रंग में घर आने तथा पति के घर में न होने से विरह का भाव भी वेदना का स्वर बनकर बाहर निकल रहा है।

घट्टी गीत

बहन शहर में रह रही है और भाई गाँव से सावन की रोटी (नागपंचमी पर) लेकर बहन के घर आता है, परन्तु उसे पता नहीं मालूम है। वह अपनी बोली में (मोयरी /पवारी) बहन के रहने का पता पूछता है तो बहन अपने भाई की बोली सुनकर

अपने भाई को पहचान लेती है और फिर उसे बुलाती है। इस घटना का जिक्र वह अपने ससुराल में घट्टी पर अनाज पीसते हुए गीत में करती है-

बंधु मरोऽ आयो रे लेनअ
 बेतूल गाँव की गल्ली मऽ
 बाई मरीऽ ओ तुरसी न
 चिन्हयो गोयराई बोली मऽ

यहाँ अंचल की बोली को पहचान का सबसे बड़ा कारण माना है। घट्टी पर अनाज पीस रही माँ कहती है कि तुलसी बाई ने बोली के कारण उसके भाई को बैतूल की गली में पहचान लिया।



इसी प्रकार कुछ और घटनाएँ हैं, जो सावन के महीने में झमाझम बरखा के बीच घट जाती हैं। सावन की एक ऐसी ही घटना को पवारी गीतों में मेहंदी लगाते-लगाते बहुत तल्लीन परन्तु गमगीन स्थिति में गाया जाता है। गीत में मालिन बेटी के नदी में डूब जाने की घटना का वर्णन है-

फुलवा वन फूली कचनार, फूली कचनार
 मालिन बिटिया फूल बीनन जाय ॥
 फूल बिन्ता-बिन्ता, लगी रे पियास, लगी रे पियास
 मालिन बिटिया जल ढूँढ़न जाय।
 जल ढूँढ़ता-ढूँढ़ता मिली सागर ताल
 मालिन बिटिया जल पीयै लाल ॥

फूलों के बाग में कचनार फूल गया है। फूल को लाने के लिए मालिन की बेटी वन में जाती है। फूलों को तोड़ते हुए उसे प्यास लग जाती है। अपनी प्यास बुझाने के लिए पानी की तलाश में निकलती है तो सागर-ताल से जा मिलती है। सागर-ताल में पानी पीते-पीते मालिन बेटी का पैर किनारे के टूटने से फिसल जाता है। आगे कथा का वर्णन इस प्रकार मिलता है-

जल पीता-पीता खसी रे कराड़,
कराड़ खरी रे कराड़
मालिन बिटिया डूब चली लाल।

यहाँ ताल में मालिन बेटी डूबने लगती है। मालिन की बेटी के फूल बीनने, प्यास लगने और डूबने की कथा कोई माँ मेहंदी रचते हुए अपने बेटे (लाल) को सुना रही है। पवारी में लाल शब्द बेटे के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है। अतः यह माना जाना चाहिए कि माताएँ इस तरह की कथाएँ गीतों के माध्यम से अपने बेटे-बेटियों को सुनाती हैं। माँ ने पुत्र को बताया कि बेटे (लाल) जब मालिन की बेटी सागर ताल में डूबने लगी, तो राह चलते हुए एक पथिक (राहगीर) को पुकारते हुए कहा-

बाट चलन्ता तू ही मरो बीर, तू ही मरो बीर
एनी नगरीच म देजो पुकार
मालिन बिटिया डूबऽ मरीऽ लाल।।

राहगीर ने उसे नगर में पुकारा और बताया तो-

माखेर की दौड़ी गुहार,
सासर की बजी फौरन बात
मालिन बिटिया डूब भरीऽ लाल

मालिन बिटिया के मायके और ससुराल में खबर पहुँची, तरह-तरह की बातें होने लगी। कोई कहने लगा कि हमने पानी में चुनरी का सिरा (छेव) डूबते हुए देखा था। जब ऐसा पता लगा तो मायके और ससुराल वाले उस ताल किनारे गये, सभी ने देखा कि बिटिया की चुनरी ताल के जल में तैर रही है और मालिन बिटिया ताल में डूबकर मर गई है। हे मेरे लाल! इस प्रकार ताल में डूबकर मालिन बेटी डूब मरी।

वर्षा काल में समय काटने, पर्वों का आनंद लेने तथा अच्छे-अच्छे पकवान बनाने, कथड़ी (सीने), रस्सी आँटने तथा कागज की टोकरियाँ व मिट्टी की मूर्तियाँ आदि बनाने के लिए पर्याप्त समय पुरुष व नारी के पास होता है। अतः वे ऐसे क्षणों को गीत गाकर व्यतीत करते हैं। लोक-गीत गाने व सुनाने की परम्परा सतपुड़ान्चल के लोक-जीवन में कुछ अधिक ही है। आवश्यकता है लोक-गीतों को एकत्रित कर उन्हें संग्रहीत करने व संपादन करने की। ये लोक-गीत समाज की अनमोल धरोहर हैं, अतः लोक-साहित्य में इनका भी उल्लेख आवश्यक है।

बंगाल के लोकगीत

डॉ. दीपिका श्रीवास्तव

बंगाल का लोकसंगीत भारतीय लोकगीत का एक अभिन्न अंग है। बंगाल की समृद्धिशाली संस्कृति का प्रधान अंग संगीत है। बंगाल के प्रचलित लोकगीतों में ही बंगाल के संगीत की आत्मा बसती है। लोकसंगीत जीवन के सुख-दुःख, सामाजिक आचरण एवं दैनिक जीवन के प्रत्येक पहलू के साथ जुड़ा हुआ है। बंगाल के लोकसंगीत में जीवन के प्रत्येक पहलुओं को अनायास ग्रहण किया गया है। जन्म से मृत्यु तक जीवन के हर क्षेत्र से लोकगीतों का सम्बन्ध है।

लोकसंगीत लोक जीवन के अतीत-वर्तमान तथा भविष्य का प्रतिध्वनिमय संगीत है। लोकसंगीत में लोक के सुख-दुःख उतार-चढ़ाव का वर्णन मिलता है। लोकसंगीत के विषय में डॉ. मोस्तफा जमान अब्बासी ने बताया है कि जो गीत लोक में हर कोई गाता है, जिस गीत का कोई निश्चित लिखित रूप नहीं होता है, जिस गीत के लेखक या गायक का निश्चित परिचय न हो जो सिर्फ चित्त को आनन्द देने के लिए गाया जाता हो, जिसकी गायिकी में सम्पूर्ण भावमय रूप हो, वही लोकगीत है। संक्षेप में यह भी कहा जा सकता है कि लोक की प्रकृति को देखते हुए हृदय से स्वतः स्फुरित गीत ही लोकगीत है।

अष्टक गान

प्राचीनकाल से पूर्वी बंगाल के यशोर, फरीदपुर, खुलना, राजशाही, पावना और कूष्टिया जिले में नील पूजा के सहयोगी अनुष्ठान के अंग के रूप में अष्टक गान में प्रचलित हैं। आज भी चौबीस परगना तथा नदिया के गाँव-गाँव में शिक्षित या अशिक्षित कृषक

सम्प्रदाय द्वारा अष्टक गीत समूह में गाया जाता है। अष्टसखी के नृत्य-गीत को ही अष्टक गान कहा जाता है। श्रीकृष्ण और सखियों की भूमिका में गाँव के किशोर-किशोरियाँ भाग लेते हैं। अष्टक गीत में नृत्य-गीत तथा अभिनय तीनों का संयोग होता है।

अष्टक गीत की विषय-वस्तु के रूप में पौराणिक और धार्मिक कहानियाँ जैसे रामायण, महाभारत, चैतन्य जीवनी इत्यादि कथा प्रमुख रूप से स्वरबद्ध कर गई जाती है। यह गीत प्रमुखतया चैत की दुपहरिया में ऊँचे स्वरों में गाया जाता है।

सारि गान

सारि गान बंगाल के लोकगीत का एक प्रचलित प्रकार है। एक के बाद एक पंक्तिबद्ध होकर बैठने या खड़े रहने की स्थिति को बंगला में 'सारि' कहा जाता है। अतः नाव में सारिबद्ध हो बैठकर या खड़े होकर वन्दना, दान या लीला गान करना ही 'सारि गान' है।

सारि गान की विषयवस्तु प्रमुखतया लौकिक प्रेम, बिरह-मिलन, गंगा वंदना, राधा-कृष्ण विषयक प्रेम आख्यान, देवी-देवता की वन्दना एवं संसार विषयक गान है। इसके अतिरिक्त सारि गान में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन भी किया जाता है।

जयनारायण घोषाल विरचित 'करुणानिधान विलास' ग्रन्थ में संकलित कुछ सारि गान का उदाहरण इस प्रकार है -

*तरुणी तरण्याकार कृष्ण कर्णाधर।
एडरूपे जौलकेली शुख पारावा।*

श्रीकृष्ण माझी बने गोपियों के साथ नाव में विहार कर रहे हैं, वे चंचलतावश नाव से ही पानी के जीव-जन्तुओं को पकड़ते हैं।

*कर बैठा कण्कणते बाजिह दे पन्जणि।
सप्तस्वरे सारि गाय गोपिनी रंगीनी।।*

सारि गान के विषय में डॉ. पल्लव सेन गुप्ता ने बताया है कि जब कई लोग एक-साथ मिलकर कुछ काम करते हैं तो श्रम की क्लान्ति और एकरसता दूर करने के लिए मिलकर कुछ गाते हैं जैसे छत बनाना, धान काटना, ईटा सजाना इत्यादि मेहनत -कश

श्रमिक-कृषक-नाविकों के तालबद्ध गीत को सारि गान कहते हैं।

भाटियाली गान

भाटियाली संगीत पूर्वी बंगाल प्रमुखतया मैमन सिंह, ढाका के पूर्वान्चल, त्रिपुरा विशेषतः मेघना नदी और ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे बसे मल्लाहों का गीत है। ज्वार की स्थिति में नाव चलाते हुए जब नाव अपने आप बहती है, माझी को शारीरिक कसरत करने की आवश्यकता नहीं होती, तब वह उदात्त कण्ठ से गाता है। भाटियाली की बंदिशों की एक विशेषता है कि माझी अपने हृदय की भावना को कम शब्दों में कहता है और प्रत्येक वाक्य के बाद दीर्घ स्वर में आन्दोलनयुक्त स्वरावली एवं मुरकियाँ प्रयोग करता है। भाटियाली गीत ऊँचे स्वर में प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे मध्य में मंद स्वर में आकर समाप्त होता है।

गुरुदेव के बहुत से गीत भाटियाली धुनों पर आधारित हैं। कविगुरु रवीन्द्रनाथ जी ने कहा कि-रिकार्ड व चलचित्र के माध्यम से जिन भाटियाली गीतों के साथ हमारा परिचय है, वास्तव में वे भाटियाली गीत नहीं हैं। हम लोग वाद्यों की संगत में गाये जाने वाले भाटियाली गीतों के बारे में जानते हैं। मेघना या सूरमा नदी में गूँजने वाले भाटियाली गीत के साथ कोई वाद्य नहीं बजते हैं और लय का बन्धन भी नहीं होता। भाटियाली गीतों का लय मानो नदी की धारा के समान स्वच्छंद गति में चलता है। उदाहरण-

*माझि बाहिया जाआ रे
अकुल दरिया र माझे आमार भांगा भांगा नाउ।*

जारि गान

जारि का शब्दार्थ है प्रचार। बंगाल में मुहर्रम के महीने में मुसलमानों द्वारा करबला के वियोगान्त विषयवस्तु को लेकर गाये जाने वाला वरुण रसात्मक गीत जारि गान है। यह गीत समूह में ढोल, खोल, जुड़ि, करताल इत्यादि बजाकर गाया जाता है। मूल गायक पहले गाता है और उसके पीछे-पीछे अन्य गायकगण गाते हैं।

वर्तमान में बंगाल के अनेक गाँवों में जारि गान केवल करबला कहानी पर नहीं, अपितु धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक विषयों एवं परिस्थितियों को लेकर रचा जाता है।

भादु

बंगाल के पुरुलिया अंचल में सर्वाधिक प्रचलित भादु उत्सव है। उत्सव के दिनों में गाये जाने वाले गीत ही भादु गीत है। इन गीतों में प्रमुखतया कुमारी हृदय की आशा, सुन्दरता, चाह इत्यादि का वर्णन रहता है। भादु गीत प्रमुखतया महिलाओं का लोकसंगीत है। इसमें प्रसाधन, नारी हृदय की सूक्ष्म चाह इत्यादि का वर्णन मिलता है, उदाहरणार्थ-

भादु तोर लेगे रोदन करे ।
रंजा जमुनार तीरे ।
कि कि गहना लिबि भादू
बलना आमारे ।
आमि पाये लोबो पायेर
तोड़ा साजबो बाहरो ।
किकि साड़ी लिबि भादू
बलना आमारे
आमि सबूज सारि
लोबो साजबो बाहारे ।

यह गीत सवाल-जवाब रूप में है। भादु से सखी पूछती है कि तुम्हारे लिये राजा जमुना किनारे इन्तजार कर रहा है। तुम उनसे क्या गहना लोगी? वह जवाब में कहती है कि मैं पायल लूँगी, हरी साड़ी लूँगी और नाक की लौंग भी लूँगी।

लूकिये तोमाय राखबो भादु
आमार बुकेर माझे
मोने मोने कोरबो पूजो
सोकोल आर साझे
हाते तोमार सोनार बाला
गौलाय तोमार मुक्तामाला
फूले तोमाय साजिये दोबो
बनफूलेर साजे
नाइबा जोदि तोमार माथाए
देवदासीरा चामर दूलाय
खोति की ताइ शंख घन्टा
नइ बा जोदि बाजे ।

भाव यह है कि भादु तुम्हें विदा करने को जी नहीं करता है। तुम्हें दिल में छुपाकर रखूँगी और पूजा करके नाना अलंकार और उपहार दूँगी... आदि।

भाओ-आइया

भाओ-आइया गीत उत्तरी बंगाल का अत्यन्त लोकप्रिय गीत है। भाओ- आइ शब्द की उत्पत्ति भाव से हुई है। भाव इया प्रत्यय जोड़कर भाओआइ बना है। अर्थात् जिस गीत की धुन और विषयवस्तु हृदय को मथित करे, भावुक बनाये, वही भाओआइ संगीत है। बंगाल के कूचविहार, दिनाजपुर और रंगपुर प्रान्त में हिन्दू-मुसलमानों के मिश्रित एक यायावर जाति है, जिसे बाऊदिया सम्प्रदाय कहते हैं। इस सम्प्रदाय में प्रचलित गीत ही भाओआइ है। भाओ आइया का मूल भाव दुखान्त है, भाओ आई का उदाहरण-

कुकिला डाकिस नारे आर
आमार बासोन भोरे बाहार
नाबालोक काले मइलो पति
जार पोड़ कपाल ।

हे कोयल! मत पुकार, जिस नारी का पति कम उम्र में मर जाये, उसकी किस्मत फूट जाती है।

गम्भीरा

बंगाल के विभिन्न प्रान्तों में चैत संक्रान्ति के दिन शिव की पूजा के उपलक्ष्य में गम्भीरा उत्सव आयोजित किया जाता है। गम्भीरा उत्सव चार दिन तक चलता है। प्रथम दिन घर भरते हैं, द्वितीय दिन छोटा तमाशा, तृतीय दिन बड़ा तमाशा और चतुर्थ दिन आहार अर्थात् खान-पान होता है। इन चार दिनों के उत्सव में चैत संक्रान्ति के दिन चड़क पूजा होती है।

गम्भीरा उत्सव में गम्भीरा-गान का ही सर्वाधिक महत्त्व है। यह अभिनय युक्त गीत-नाट्य है। यह गीत विधा कई अंगों में बँटी हुई है। इन गीतों के गायन में हारमोनियम, तबला, मन्दिरा, बंशी और जुड़ि प्रमुख वाद्य यन्त्र के उपयोग हैं- इन गीतों के अभिनयन में मुखौटों का प्रयोग होता है। यह गीत-नाट्य गोलाकार क्षेत्र में होता है। गम्भीरा गीत की विषयवस्तु प्रमुखतः तत्कालीन सामाजिक स्थितियों को प्रस्तुत करता है। इनके अतिरिक्त बाउल, बारहमासा, कीर्तन आदि भी बंगाल के प्रसिद्ध लोकसंगीत है।

छत्तीसगढ़ी सुआ गीत

राम कुमार वर्मा

छत्तीसगढ़ सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध प्रदेश है। वर्ष के बारहों महीने कोई न कोई तीज-त्योहार मनाए जाते हैं। इसका सम्बन्ध कृषि, देवी-देवताओं व प्रकृति की पूजा से होता है, ताकि लोगों के जीवन में सुख-शांति बनी रहे। ऐसे मौलिक सुख की प्राप्ति यदि सामूहिक रूप से हो तो यह अत्यंत सुखदायी होती है। इसमें सर्वहिताय व सर्वसुखाय की मूल भावना व्यक्त होती है। इस तरह की मूल भावना छत्तीसगढ़ के लोक गीतों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। सबसे अच्छी बात तो यह है कि यहाँ के लोकगीतों में एकल व व्यक्तिगत गीतों की अपेक्षा समूह गीतों की परम्परा है। एक दल के साथ वादक दल के सहयोग से गीत गाने की परम्परा को अनोखी माना जा सकता है। यही कारण है ऐसे लोक गीतों को जो समूह में मौलिक रूप से गाये जाते हैं, इन्हें सामुदायिक स्वीकृति प्राप्त होती है। ऐसे लोक गीतों का रचनाकार कोई एक व्यक्ति नहीं होता। परम्परा से एक पीढ़ी से सुनकर दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होने के कारण सामूहिकता व निरंतरता का भाव सदा बना रहता है।

‘सुआ’ गीत इसी तरह का सामूहिक लोक नृत्य-गीत है। इसे ‘सामूहिक नृत्य-गीत’ कहना सर्वथा उचित रहेगा। सुआ गीत हमेशा पाँच से लेकर पच्चीसों महिलाएँ, कन्याएँ व युवतियाँ मिलकर गाती हैं। ‘नृत्य गीत’ कहना इसलिए वांछित है, क्योंकि इसमें नाचना व गाना दोनों साथ में होता है। नर्तकी व गायिका भी वही महिलाएँ होती हैं। इसलिए ‘सुआ’ लोकगीत को ‘नृत्य-गीत’ की श्रेणी में रखना उचित है।

पौराणिक पृष्ठभूमि

सुआ गीत कब से गाना प्रारंभ किया गया होगा? इसके जवाब में भले ही कुछ सटीक उत्तर न दिया जा सके, पर इतना अवश्य है कि सतयुग में माता सती किसी बात पर शंकर जी से रूठकर कहीं चली गयीं। तब शंकर जी ने सती माता की छोटी बहन से एक रात्रि में विवाह कर यह कह दिया कि तुम नहीं रहोगी तो कोई दूसरी पत्नी कर लूँगा। सती को पता चलने पर वह गौरी पर नाराज हो गयीं और उसे उलाहना देकर कहा- मैं इनके साथ नहीं निभ पा रही हूँ, भोले भंडारी हैं। तुम इनके साथ कैसे सुखी रहोगी? इतना सुनकर गौरी ने दूसरी सुबह जल समाधि लेकर अपना जीवन समाप्त कर लिया। इसी की याद में छत्तीसगढ़ में गौरी-गौरा का अनुष्ठान किया जाता है।

एक सप्ताह तक महिलाएँ 'गौरी-गौरा' के साथ 'सुआ' गीत गाती हैं। वैसे भी विभिन्न युगों में राजा-रानियों, राजकुमारियों का पशु-पक्षियों के प्रति लगाव होने के अनेक कथा प्रसंग अभिलिखित हैं। तोता-मैना, कबूतर, चील, बाज द्वारा संदेश भेजना प्रचलन में रहा है। राजा-महाराजाओं के समय में भी अंतःपुर में रानियों, राजकुमारियों का मन बहलाने के लिए 'तोता' पालने का उल्लेख अनेक किस्से-कहानियों में आता है।

सुआ गीत

माता सती के मन की पीड़ा व गौरी को सचेत करने के लिए नारी मन की बातों का स्त्री विमर्श के रूप में सामूहिक व लोकरीति से गायन महिलाएँ देर रात्रि में करने लगीं। समय के अनुसार सुआ गीतों से पौराणिक कथाएँ विलुप्त होकर सामाजिक परिवेश के विषयों तक सिमट गई। पौराणिक कथा प्रसंग का छत्तीसगढ़ी लोकगीत में उल्लेख मिलता है-

अइसन भोले बाबा ल
कइसे मनाबे ओ गौरी,
तेहा ईसर राजा ल..।
भांग धतुरा पिये धुनी रमाए
नाचे अऊ बजाए डमडम,
डमरू बाजा ल ...।

सुआ गीत मूलतः नारी प्रधान ग्राम्य गीत है। यह गोण्ड जनजाति की प्रौढ़ से लेकर बालिकाओं द्वारा गाया जाता है। सुआ गीत कहने के पीछे यह संभावना है कि जब नवयुवती ब्याह कर ससुराल जाती है, तब प्रारंभ में उसे बहुत मान-सम्मान मिलता है, पर कुछ वर्षों के बाद पारिवारिक विघटन, कलह, आर्थिक संकट, परिवार का पलायन, पति का परदेश जा बसना, सौतन का आना, निःसंतान होना, देवर-देवरानी, जेठ-जेठानी, सास-ससुर द्वारा व्यक्तिगत रूप से प्रताड़ित करने जैसी स्थितियों से व्यथित होकर नारी अपनी पीड़ा सुआ को सम्बोधित कर निःसंकोच व्यक्त कर देती है। मनुष्य के विमुख व असहयोगी होने की स्थिति में सुआ ही एकमात्र सहारा रह जाता है। 'सुआ' छत्तीसगढ़ी में 'तोते' को कहा जाता है। कभी-कभी महिलाएँ 'पड़की नाचे ल जबो न' भी कहती हैं। 'पड़की' छत्तीसगढ़ी में 'पंडुक' यानि कबूतर प्रजाति की एक चंचल व सलोनी पक्षी को कहा जाता है। यह प्रायः सभी गाँवों में मिलता है। हमारी ग्रामीण व आदिवासियों महिलाओं की संगी-साथी यही पक्षियाँ हैं। वे इन्हीं को अपना सच्चा हितैषी मानकर अपनी अंतर्मन की बातें सहज रूप से प्रस्तुत करती हैं।

सुआ गीत मूलतः गोण्डी महिलाओं द्वारा गाये जाने वाला गीत है। आज भले ही अन्य जातीय समुदायों के लोगों द्वारा इसे प्रस्तुत किया जाता हो, पर यह मूलरूप से गोण्ड समुदाय का गीत है। गोण्ड जाति की महिलाओं की बुद्धिमत्ता, सृजनशीलता, पौराणिक कथा प्रसंगों का ज्ञानवान व रचनाधर्मी प्रयोग इन गीतों में सहजरूप से देखा जा सकता है।

छत्तीसगढ़ में सुआ गीत अत्यंत सादगी व सरलतापूर्वक प्रस्तुत किया जाता है। गौरा- गौरी के अनुष्ठान के बीच में संध्या काल से देर रात्रि तक गोण्डी महिलाएँ ग्राम के लगभग सभी घरों में जाती हैं। एक महिला सिर पर एक टोकनी रखती है, इसमें एक 'करसा' जलते दीपक के साथ रखा जाता है। साथ में चावल या धान भरी टोकनी में मिट्टी या लकड़ी से बने तोते खोंसे रहते हैं, जो टोकनी के ऊपर से दिखते रहते हैं। इसे नीचे रखकर चारों ओर घूम-घूमकर नारियाँ नाचती और गाती हैं। इसमें बहुत ज्यादा उछलने कूदने की जरूरत नहीं होती। बरसात के बाद दीपावली के पूर्व तक सभी का आँगन चौक-चातर साफ-सुथरा होता है। ये

महिलाएँ साड़ी घुटनों तक ही पहनी होती हैं, इसलिए छोटे-छोटे कदम उठाए बिना ही पैरों को क्रमशः दायें और बायें सरकाते हुए गोल-गोल घूमती हैं। ताली की थप-थप ध्वनि वाद्यों की ताल का सुखानुभूति कराती हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी गोण्डी महिलाएँ कोष्ठउला साड़ी पहनती हैं, जो आठ से बारह हाथ की लम्बी होती है। विशेष रूप से गाढ़ा नीला, हरा, सुर्ख लाल रंगों की साड़ियाँ इन्हें पसंद आती हैं। इसी से मिलते-जुलते रंग का फूलकट्या सादे बाँहों वाला ब्लाउज व पोलका पहनती हैं। यह चटकदार रंग के होने के साथ वजनदार भी होता है। साथ ही कमर पर चार से छह लर का करधन चाँदी का, बालों में नांगमोरी, गले में रूपिया या पुतरी, कलाइयों पर काँच की चूड़ियाँ व चाँदी की ऐंठी, कानों पर सोने का लटकन या खीनवा, नाक में फूल्ली इनके तन को अलंकृत करते हैं। ये पारम्परिक गहने इनका श्रृंगार होने के साथ वैभवशाली होने का भी प्रतीक हैं। सुआ गीत गाने के लिए दस-पन्द्रह स्त्रियाँ आती हैं, तब इनका बनाव-श्रृंगार प्रादेशिक पहनावे की मौलिकता और श्रेष्ठता को प्रदर्शित करता है।

सुआ गीत के विषय केवल नारी विमर्श न होकर पौराणिक प्रसंगों पर आधारित होते हैं। ये नृत्य-गीत स्त्रियों द्वारा प्रदर्शित होने के कारण ज्यादातर स्त्रियों पर केन्द्रित होते हैं, पर मूल विषय में काफी गंभीरता व विविधता होती है। प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से वंदना, पौराणिक व धार्मिक विश्वास, नारी जीवन स्वातंत्र्य, प्रबंधात्मक एवं कथात्मक कृषि, पारिवारिक जीवन, नाते-रिश्तों व ग्राम्य जन-जीवन को प्रदर्शित करने वाली होती है। सबसे पहले वे धरती, आकाश, माता-पिता, सरस्वती, भवानी माता की वंदना करती हैं। इसमें लोक देवी-देवताओं ठाकुर देव, बूढ़ा देव, डिह-डिहवरिन का उल्लेख मिलता है-

सारद माता सरसती भवानी कि सुवना हो।
चरन मनावूं तोर।
भूले आदर बताबे तय माता कि सुवना हो।
रात दिन सुधि लेव।।

इस वंदना के साथ ही वे अपने विषय पर सीधे गीत प्रारंभ कर देती हैं। वे अपना नारी जीवन दुखदायी मानते हुए चाँद-

सूरज व अन्य देवी-देवताओं से दुबारा नारी जीवन न देने की कामना करती हैं-

पड़या परत हौ मैं चंदा सूरज के,
मोला तिरिया जनम झनि देय।
न रे सुआ हो.....।
तिरिया जनम मोर अति कलपना रे,
मोला तिरिया जनम झनि देय।।
न रे सुआ हो.....।

नारियाँ अपने जीवन के साथ ही अन्य पशु-पक्षियों के प्रति काफी संवेदनशील होती हैं। उनके सुख-दुखों को वे अपने जीवन के साथ जोड़कर देखती हैं। उसे भी सुआ गीत का विषय बनाती हैं।

कोन चिरइया मोर चीतर काबर रे सुवना,
कि कोन चिरइया उजर पांख।
सुआ मोर कोन चिरइया उजर पांख।
भरही चिरइया मोर चीतर काबर।
बकुला चिरइया उजर पांख।
सुआ मोर बकुला चिरइया उजर पांख।।
कोन चिरइया मोर सोवय सुख निंदिया,
कोन चिरइया जागय रात।
मोर सुवना कोन चिरइया जागय रात।
भरही चिरइया सुख सोवे निंदिया।
मोर सुवना बकुला जागय सारी रात।
करर-करर करे कारी कोइलिया।
रे सुवना कि मिरगा बोले आधी रात।
मिरगा के बोली मोला बड़ सुख लागे।
रे सुवना कि सुख सोवे बसती के लोग।
एक नइ सोवे मोर गाँव के गड़रिया।
रे सुवना कि जेकर बहिनी गए परदेस।।
चिट्ठी लिख-लिख बहिनी भेजत हो।
रे सुवना कि मोरो बंधु आवे लेनहार।।

सारी बस्ती सो जाती है, पर नारियों को इस बात का सर्वत्र एहसास होता है कि प्रकृति में कौन से जीव-जन्तु हैं, जो नहीं सोये हैं। अपने सुख-दुख के एहसास के साथ जोड़कर देखती हैं।

भाई-बहनों को तीजा-तिहार के अवसर पर अपने घर अवश्य लाते हैं, पर कभी-कभी अतिवृष्टि से बहन को लाना भी बाधित हो जाता है, जो सुआ गीत विषय बन गया है-

कइके के जावव बहिनी तोला लेवन बर,
रे सुवना कि नदिया छेके हो मंझधार।
डोंगहा ल दे-दे भइया दस रूपइया
रे सुवना कि ओ तो जल्दी नहकाहीं नदिया पार,
पो दे दाई कोढ़ा भूसा के रोटी,
रे सुवना कि बहिनी लेवन बर जावं।
उहां कहां जाबे बेटा बहिनी लेवन बर।
रे सुवना कि उहां परे के पनिआ दुकाल।।

भाई-बहन को लिवाने जाता है, पर (बाढ़) नदी में पूर आने के कारण वह जा नहीं पाता। नाव से पार होकर आने के लिए बहन कहती है। भाई अपनी बहन से रूखी-सूखी रोटी बनाने के लिए कहता है। भाई किसी तरह बहन के ससुराल पहुँच जाता है। वहाँ उसकी बहन अपने मन से कुछ नहीं कर पाती। कौन सी साड़ी पहने, भोजन में क्या पकाए? यह सब अपनी सास से पूछ कर ही करना पड़ता है-

सास की कहिलौ, सास डोकरिया।
भइया आये है, लेनहार रे सुवना।।
की पहिरि सासु पानी मढ़इहौ
का पहिरि सासु लाग रे सुवना।
छींट पहिरि नोनी पानी मढ़इबे,
पोतिहा पहिरि भेंट लगा रे सुवना।।

सुरजा नाम की बहू हर काम अपनी सास से पूछ कर करती है। सास बहू को अपने भाई के लिए रूखा-सूखा भोजन पकाने के लिए कहती है। तब वह संकोच में पड़ जाती है कि दही-मही के साथ अच्छा भोजन करने वाला मेरा भाई निकृष्ट भोजन कैसे करेगा? उसका मन कचोट कर रह जाता है। इसी बात को सुरजा सुआ गीत के माध्यम से व्यक्त करती है-

उठव-उठव ससुर भोजन जेवन बर,
मोर बन्धु आये लेनहार।
नइ में खावं सुरजा नइ में जेवं,

मोर बन्धु आये लेनहार।।
उठव-उठन सास जेवन जेवन बर,
मोर बन्धु भाये लेनहार।
नइ में तो जेवं सुरजा नइ में खावं,
अउ मोर पेट गजब पिराय।।
जाबो ते नहिं ससुर जल्दी बता दे,
केर मोर बन्धु आये लेनहार।
छै महिना बर सुरजा पानी ला घर देवे,
तब सुरजा जाबे अपने देस।
छै महिना बर सुरजा धाने ल कूट देवे,
तब सुरजा जाबे अपने देस।।
सुरजा बिचारी मोर धाने ल कूटय,
तब सुरजा जावये अपने देस।।

घर में सारी व्यवस्था करने के बाद ही बहू को अपने मायके जाने के लिए अनुमति मिल पाती है। इसी तरह कुछ दिन मायके में रहने के बाद उसे पति गृह जाने की सूचना मिलती है। वह चिंतित हो जाती है। वह सास-ससुर, पति-देवर सभी के साथ जाने में स्वाभाविक शील और संकोच का अनुभव करती है-

अरसी फूले रूनुक झुनुक गोंदा फूले छतनारे,
भला हो कि गोंदा फूले छतनारे।
उदू गोंदा ला खोचे नइ पावेंव,
आगे ससुर लेवन हारे।।
ससुरे के संग नइ जावं दाई,
रद्दा में आंखी बताबे।
उदू गोंदा ला खोंचे नइ पावेंव,
आगे सासे लेवन हारे।।
सासे संग नइ जावं दाई,
रद्दा में अकल बताथे
उदू गोंदा ला खोंचे नइ पावेंव,
आगे देवर लेवन हारे।।
देवर संग नइ जावं दाई,
रद्दा मं ठण्ठा मढ़ाथे।
उदू गोंदा ला खोंचे नइ पावं

आगे सैया लेवन जाववं दाई,
रद्दा में सोंटा जमाथे ॥

इस सुआ गीत में नवविवाहित मायके में अधिक दिन रह नहीं पाती, उसकी पीड़ा व्यक्त हुई है। वहीं कुछ गीतों में विवाह के बाद बेटों द्वारा माता की उपेक्षा करने की मानसिक वेदना भी प्रकट होती है-

चारेय दिन वर बाबू गये ससुरारे
ससुरे के करथव बढ़ाई।
दसे महिना बेटा ओदरा में राधेंव,
नइ करथव जेखरो बढ़ाई ॥
राम किरिया देहोंव दाई भगवान किरिया देहूं,
राम किरिया देहोंव दाई भगवान किरिया देहूं,
कबहूं नइ जावव ससुरारे।
जूग जूग जीयव बेटा लाघे बरिसे,
सब दिन जाहो ससुरारे ॥

सुआ गीतों में पति-पत्नी का हास्यपूर्ण वार्तालाप भी मुखरित होता है। पति कहता है कि मेरा कम्बल फटा हुआ है। अगहन-पूस की कड़ी ठण्ड है, गोरसी में आग भरकर लाने के लिए पत्नी को कहा, तो वह राख भरकर ले आई-

तरी नारी नारा मोर नहा ना री ना रे भैया मोर।
तरी नारी नाना मोर नार, नरे भैया मोर तरी नारी नानो नारी ना.. ॥
कमरा अऊ खुमरी मोर झिलिंग झालंग, भैया मोर,
अगहन पूस कई नाइ, तरी नारी नहाना नारी..।
तोला भेजेंव बाई गोरसी भरे बर भैया मोर,
भरि मड़ाये फोकला ते राख, तरी नारी नहाना नारी ॥

इन गीतों में देवर-भाभी के पारस्परिक व पारिवारिक सम्बन्धों को सरलता व हृदय ग्राह्यता के साथ अभिव्यक्त किया गया है-

पहिली गवन के डेहरी बइठारे
छाड़ पिया जाथें बनिज ब्योपार।
काकर संग खइलौ काकर संग खेलिकौ,
का देख रहिलो मन बांध ॥
अंगना लगा ले तै तुलसी के बिरवा,

ओला देख रह मन बांध।
तुलसी के बिरवा हरियर- हरियर
मोर राजा करत बनीज ॥
तुलसी के बिरवा झुरमु-झुरमु,
मोर पिया गय रन जूझ।
छोटे देवर मोर बड़ नटकुरिया,
छैकत है मोर दुवारे।
सोवा परे म फटिका ले पेले
वांचिहौ कैसे धरन हमार।
कारी नागिन मोर मितनिज,
रात रहे संग आय।
कातिक लगे तोर अइके सजनवा,
जलहि जोत बिसाल।
तरि हारि नाना रीना..।

गौरी-गौरा पर्व के समय कोई कुँवारी गोंडीन कन्या कैसे चुप रह सकती है। वह अपनी माँ से आठों अंगों के लिए गहने माँगती है। कहती है- माँ! मैं तो सुआ नाचने के लिए जाऊँगी। एक-एक कर सारे गहनों के साथ माँग का सिंदूर भी माँग लेती है-

दे तो दाई तोर गोड़ के पैरी, सुवा नाचे बर जाबोन।
दे तो दाई तोर हाथ के बहुटा, सुवा नाचे बर जाबोन ॥
दे तो दाई तोर घेंच के सूता, सुवा नाचे बर जाबोन।
दे तो दाई तोर माथ के टिकली, सुवा नाचे बर जाबोन ॥
दे तो दाई तोर कान के घूटी, सुवा नाचे बर जाबोन।
दे तो दाई तोर हाथ के ककनी, सुवा नाचे बर जाबोन ॥
दे तो दाई तोर माँग के सेंदूर, सुवा नाचे बर जाबोन।
दे तो दाई तोर चाँदी के लुगरा, सुवा नाचे बर जाबोन ॥
भला सुवा रे मोर, सुवा नाचे वर जाबोन ॥

पारिवारिक, सामाजिक, प्राकृतिक जन-जीवन के साथ ही धार्मिक और पौराणिक प्रसंगों पर भी सुआ गीत अवश्य गाए जाते हैं, जो गोंड स्त्रियों के ज्ञान को अभिव्यक्त करता है-

तरि हरि नाना मोर ना हरि नाना हो
तरि हरि नाहना री नाना बिरिज बन रसिया हो ॥
का परा चरिथे मोर मोंगरी मछुरिया हो.. ॥

का चारा चरे दूध नागीन बिरिज बन रसिया हो ॥
 कनकी कोडला चरिथे मोर मोंगरी मछुरिया हो ।
 दूधे पिये दूध नागीन बिरिज बन रसिया हो ॥
 कोन मेर रहिथे मोर मोंगरी मछुरिया हो ।
 कोन मेर रहे दूध नागीन बिरिज बन रसिया हो ॥
 नंदिया मं रहिथे मोर मोंगरी बिरिज मछुरिया हो ।
 भिंभोरा म रेहो दूध नागीन बिरिज बन रसिया हो ॥
 आसा घेलेन पासा खेलने खेली डारेन डंडा ।
 अइसन सुंदर गौरी गनेस ल कइसे करबो डंडा ॥
 तरि हरि नाना मोर ना हरि ना हो... ।

महिलाएँ सुआ गीतों को अपनी स्मृति के अनुसार गाती हैं। पहले से बहुत कुछ तय नहीं होता। लगभग सभी गीतों को दल की महिलाएँ सुन और गा चुकी होती हैं। ऐसे में दुबारा गाने में कोई कठिनाई भी नहीं होती। नए सदस्य सीखते हैं। वे आखिर में सुख-समृद्धि की कामनाएँ ईश्वर से जरूर करती हैं—

जइसे माता लिहो दिहे ना रे सुवना,
 तइसे तय लइले असीस ।
 घने दोगाणी मं तोर घर भरली रे सुवना,
 जीवे जुग लाख बरीस ॥

सतपुड़ा और मैकल पहाड़ की श्रेणियों में छत्तीसगढ़ व मध्यप्रदेश की सीमा से लगी तराइयों के बीच 'बैगा' जाति के लोग मूल रूप से निवास करते हैं। वहाँ भी दशहरा और दीपावली के बीच 'रीना गीत' गाये जाते हैं। यहाँ 'तोते' को 'रीना' कहा जाता है। इसी समय इनकी बाड़ी-खेतों में भुट्टा पक जाता है। इसके दाने चुगने के लिए दल के दल तोते आते हैं। तब यहाँ की युवतियाँ और कुँवारी कन्याएँ अपने मन की बातों को रीना को

सम्बोधित कर गाती हैं। इसलिए इन गीतों की 'रीना' गीत कहा जाता है।

इसे विवाहित एवं कुँवारी कन्याएँ हाथों में लोहे की 'ठिसकी' लोक वाद्य लेकर गाती हैं। इसकी सुमधुर ठिस-ठिस की ध्वनि के साथ जीवन, परिवार, प्रकृति व धार्मिक कथा प्रसंगों पर आधारित गीत गाती हैं। इसमें कन्याएँ कमर से सामने झुकती हैं, ठिसकी को दोनों हाथों में पकड़ती हैं। दो दल बनाकर एक दूसरे दल के प्रश्नों का जवाब देने तथा दुहराने के क्रम से गाती हैं। रीना गीत की कर्णप्रिय धुन वनांचल में गूँज उठती है। इस तरह 'सुआ' और 'रीना' गीतों में काफी साम्यता है।

री रीना री हीना आए, कुंजल बांस मेरा सुवा ।
 री रीना री हीना आए... ।
 खाए ल होती भाजी अऊ भाटा मेरा सुवा ।
 खोंचे ल होती केवला रंग फूल मेरा सुवा ॥
 काहीन मछरी चढ़ै बाल रंगीन सुवा ।
 सिंगनी मछरी चढ़ै बाल रंगीन सुवा ॥
 काहीन घर के घवरे बाल रंगीन सुवा ।
 फरसी घर के घवरे बाल रंगीन सुवा ॥
 काहीन घर के घवरे बाल रंगीन सुवा ।
 मोरा घरके घवरे बाल रंगीन सुवा ॥

समय की मार से भला 'सुआ नृत्य-गीत' कैसे बच सकता है। वर्तमान के प्रचार माध्यमों के सहारे इसकी समृद्धि तो हुई है, पर मौलिकता को काफी नुकसान हुआ है। गीत के गम्भीर व पौराणिक प्रसंगों के बजाय हल्के विषयों को सुआ गीत का विषय बनाया जाना खतरनाक है। इसे निरपेक्ष रूप समृद्ध करने की जरूरत है, साथ ही सुरक्षित रूप से भावी पीढ़ी को धरोहर के रूप में सौंपना वर्तमान पीढ़ी का पुनीत दायित्व है।

सुन्दरगढ़ और महाकाल मंदिर

मायापति मिश्र

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय को ही मालवा का लोकनायक विक्रमादित्य माना जा सकता है, क्योंकि वह अति धर्मानुरागी एवं पराक्रमी राजा था। मंगल को जन्मे मंगल ही करते मंगलमय श्री हनुमान, यदि इस उक्ति को देवकथाओं में मालवा की पहचान कहे जाने वाले महान न्यायप्रिय एवं धर्मानुरागी सम्राट विक्रमादित्य के सन्दर्भ में कही जाये तो यूँ कहेंगे- अवन्तिका से निकले तो महाकाल सुन्दरगढ़ में अटके, जीवन भर महाकार्य में भटके विक्रमादित्य महान। विक्रमादित्य कुल कितने भाई-बहन थे, इसका कोई प्रमाणिक (ऐतिहासिक) उल्लेख नहीं है, किन्तु लोककथाओं के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि सुन्दराबाई नाम की उनकी एक अतिप्रिय बहन थीं। मालवा में प्रचलित लोककथाओं में सुन्दराबाई को भी विक्रमादित्य के समान शिवभक्त महाकाल की उपासक एवं धर्मानुरागी बताया गया है। भाई-बहन में अटूट प्रेम था, दोनों प्रतिदिन उज्जैन में महाकाल एवं माँ हरसिद्धि के दर्शन करने साथ-साथ जाते थे, तत्पश्चात् अपना दैनिक कार्य प्रारम्भ करते थे। समय के साथ बहन सुन्दराबाई यौवन हो गई थी। यथा नामों तथा गुणों के अनुरूप लावण्य की धनी बहन सुन्दराबाई का विवाह महाराजा विक्रमादित्य ने मालवा के ही राठौर वंशीय राजपूत राजा भगतसिंह से कर दिया। उज्जैन से लगभग 100 किलोमीटर की दूरी पर एवं शाजापुर से 20 किलोमीटर की दूरी पर भगत सिंह कालीसिंध नदी के तट पर बसी एक रियासत के युवा एवं सुन्दर राजकुमार थे। इन्हें गणेश सिंह राठौर के नाम से भी जाना जाता है। मालवा के महान सम्राट विक्रमादित्य की बहन सुन्दराबाई को ब्याह कर लाने के पश्चात् भगत सिंह राठौर ने उनके सम्मान में अपनी रियासत का नाम 'सुन्दरगढ़' रख दिया।

स्थानीय लोक कथाओं के अनुसार उज्जैन से सुन्दरगढ़ ससुराल आने के पश्चात् अपनी दिनचर्यानुसार सुन्दराबाई ने भगवान भोलेनाथ महाकाल के दर्शन से पूर्व अन्न जल नहीं ग्रहण करने का फरमान सुना दिया। सुन्दराबाई की भावनाओं को विक्रमादित्य तक पहुँचा दिया गया। प्रिय बहन की इच्छापूर्ण करने विक्रमादित्य पूरे लाव-लशकर के साथ सुन्दरगढ़ आये और शीघ्र ही भगवान भूतभावन महाकाल का दिव्य मंदिर सुन्दरगढ़ में बनवाकर महाकाल की स्थापना करवा दिया। विक्रमादित्य समर्थवान एवं तिलिस्मी राजा के रूप में विख्यात हैं। बेताल उनके प्रत्येक प्रश्नों एवं समस्याओं के हल के रूप में उनके साथ था। ऐसे में बहन की इच्छा भला कैसे पूरी न कर पाते? महाकाल के साथ-साथ माँ हरसिद्धि की स्थापना भी सुन्दरगढ़ में करते हुए विक्रमादित्य ने मंदिर प्रांगण में ही सूरजकुण्ड का भी निर्माण करवा दिया। महाकाल, माँ हरसिद्धि और सूरजकुण्ड को पाकर बहन सुन्दराबाई सुन्दरगढ़ में ही दूसरी अवन्तिका का आभास करते हुए प्रसन्नतापूर्वक जीवन निर्वाह करने लगीं। महाकालेश्वर भगवान भूतनाथ भोलेनाथ का महाकाल मंदिर वर्तमान गाँव सुन्दरसी से दक्षिण दिशा में लगभग पाँच सौ मीटर की दूरी पर स्थित है। काले पत्थरों से निर्मित यह प्राचीन मंदिर वर्तमान में अपने मूल रूप में नहीं बचा है, परन्तु जितना शेष है, वह अपनी भव्यता एवं महत्ता की गौरवमयी कहानी दोहरा रहा है। स्थापत्य कला का बेजोड़ नमूना सुन्दरसी का महाकाल मंदिर उज्जैन के महाकाल मंदिर की पूर्ण प्रतिकृति सा लगता है। उज्जैन के महाकाल के समान ही सुन्दरसी के महाकाल भी मंदिर के गर्भगृह जो कि भूमितल से 10 फिट नीचे है, में विराजते हैं। सुन्दर नक्कासीदार खम्भों पर टिके गर्भगृह की दीवारें पत्थरों की हैं। गर्भगृह में ही शिवलिंग के समक्ष 2 फिट चौड़ा 3 फिट लम्बाई 20 फिट गहरा एक कुण्ड है। पहले इस कुण्ड में जल भरा रहता था और इसी कुण्ड के पवित्र जल से भगवान महाकाल का जलाभिषेक किया जाता था। गर्भगृह का यह जलकुण्ड अपने आप में विलक्षण उदाहरण है। गर्भगृह में प्रवेश से पूर्व एक सभामण्डप है, जिसके तीन द्वार पूर्व, उत्तर एवं दक्षिण में खुलते हैं। पश्चिम दिशा का आन्तरिक द्वार गर्भगृह का मुख्यद्वार है, जो द्वारपालों, गणिकाओं एवं सुन्दर कलाकृतियों से अलंकृत है। सभामण्डप में भी एक शिवलिंग स्थापित है, जिसका दर्शन सर्वप्रथम प्रवेश करते ही

स्वयं हो जाता है। सभामंडप के पूर्वीद्वार पर भगवान शिव के गण नंदी की वृषभ मूर्ति विद्यमान है, इसलिये यही मंदिर का मुख्यद्वार है। सभामंडप नक्कासीदार सुन्दर कलाकृतियों से युक्त गोल खम्भों पर आधारित है। वास्तुशास्त्र एवं स्थापत्य कला के इस अनूठे नमूने महाकाल मंदिर की एक विशेषता यह है कि प्रातः काल भगवान भाष्कर की प्रथम किरण सभामण्डप के 5 फिट (अनुमानतः) ऊँचे पूर्वीद्वार से होकर अंदर सभामण्डप (लगभग 15 फिट) को पार करती हुई गर्भगृह में प्रवेश करके महाकाल के समक्ष दीवार के ओटले पर स्थापित पार्वती जी की मूर्ति पर पड़ती है। सभामण्डप से 10 फिट नीचे गर्भगृह तक सूर्य की किरण पहुँचते ही एक अलौकिक आभा पूरे गर्भगृह में फैल जाती है। यह विक्रमादित्य की विचित्र संरचना है या फिर बेताल का तिलिस्म? जो कुछ भी है पर है तो शोध का विषय। सभामंडप के एक खम्भे पर एक लेख उत्कीर्ण है। परन्तु अत्यधिक मात्रा में पेंट की कई पर्तें जम जाने के कारण लेख की लिपि के गड्ढे भर गये हैं, जिससे लिपि अस्पष्ट हो गयी है। फोटो खींचने पर भी कुछ स्पष्ट नहीं हो पाता है।

मंदिर की बाहरी दीवारें नक्कासीदार विशाल पत्थरों से बनी हैं। मंदिर का बाहरी रूप उज्जैन के महाकाल मंदिर के समान ही है। 15-20 फीट तक ही मंदिर का मूल रूप शेष रह गया है। शिखर भाग बाद में निर्मित किया गया। बाद का निर्माण खंडित मंदिर या अधूरे मंदिर को पूर्णता प्रदान करने के उद्देश्य से किया गया है। मंदिर प्रांगण में बिखरे पड़े बड़े-बड़े खम्भों एवं कलात्मक शिलाखण्डों से लगता है कि ये मंदिर के ही भग्नावशेष हैं, जो किन्हीं कारणों से ढह गया था। मंदिर में उत्तरी भाग की दीवारों में कुछ मूर्तियाँ उड़ीसा शैली की भी दिखती हैं। प्रांगण में कमल की पंखुड़ियों की आकृतियों एवं अन्य बेलबूटों की आकृतियों वाले शिलाखण्ड बिखरे पड़े थे, जिन्हें सीढ़ियों एवं प्राचीरों में लगा दिया गया है। इस प्रकार चित्रों की आकृतियाँ भूतनाथ मंदिर श्रृंखला आशापुरी (रायसेन) में भी मिलती हैं। इतिहास एवं पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए यह विचारणीय प्रश्न होना चाहिए। सुन्दरगढ़ के महाकाल मंदिर के संरक्षक एवं जीर्णोद्धार का प्रथम प्रयास वहाँ के पूर्व महंत ब्रह्मलीन स्वामी परमानंद महाराज ने प्रारम्भ किया था, जिसे निवर्तमान महंत श्री हरिकृष्ण शरण बापू जी ने आगे बढ़ाया है। जन सहयोग से इस मंदिर में

उज्जैन महाकाल मंदिर की सारी परम्पराओं जैसे अभिषेक, भस्मारती, महाकाल की सवारी आदि का आस्थापूर्वक निर्वाह किया जा रहा है। माँ क्षिप्रा को चुनरी चढ़ाने की परम्परा का अनुसरण करते हुए माँ कालीसिंध नदी को भादों मास के दूसरे सोमवार को 329 फिट लम्बी चुनरी बापू जी के सान्निध्य में ओढ़ायी जाती है।

एक ओर अवन्तिका सुन्दरगढ़, विक्रमादित्य के आगमन से पूर्व भगवतगढ़ था। भगवतगढ़ गुप्त काल में भगवान विष्णु का अनुयायी भी हो सकता है, जो बाद में चलकर महाकाल भगवान शिव का अनुयायी हो गया। विष्णु के तीसरे अवतार वराह की एक लघु मूर्ति सुन्दरसी में काली सिंध की रेती में दबी मिली है, जो भागवत प्रसंग का द्योतक है। पूर्व में यह नगर सुदृढ़ दीवारों से घिरा हुआ था, जिसके भग्नावशेष आज भी देखे जा सकते हैं। वीर राठौर राजपूतों की राजधानी सुन्दरगढ़ ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। अभी आसपास के गाँवों में राजपूतों की बहुलता वाली आबादी है। इन राजपूतों के गाँवों एवं सुन्दरगढ़ में स्थित अनेक सती स्तम्भों को देखने से ऐसा लगता है कि कभी यहाँ मुगलों या बाह्य आक्रांताओं से घोर युद्ध हुआ था। बड़ी संख्या में स्थानीय सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए थे। कहीं-कहीं तो 4-4 सती स्तम्भ बने हैं, जो राजस्थान के सामूहिक जौहर व्रत की याद ताजा कर जाते हैं। अपने गौरवमयी स्वर्णिमकाल में यह स्थान व्यापार का भी मुख्य केन्द्र रहा है। नगर के पूर्व में 2 कि.मी. दूर लाल बाजार नामक स्थान है, जहाँ मुख्य व्यापार केन्द्र रहा होगा। इसी प्रकार कालीसिंध नदी के तट पर रेशम टीला नामक स्थान है। रेशम के उत्पादन में मध्यप्रदेश आज भी अग्रणी है। रेशम टीला पर रेशम उद्योग रहा होगा, जहाँ से रेशम का व्यापार होता होगा। टीला के मैदानी भाग से स्थानीय लोगों को कई बार सुल्तान जलालुद्दीन के समय के

सिक्के भी मिले हैं। इससे सिद्ध होता है, बाहर के व्यापारी भी रेशम के व्यापार हेतु सुन्दरगढ़ आते जाते रहे हैं। सुन्दरगढ़ में जैन बस्ती का भी आभास मिलता है और रंगरेजों की बस्ती का भी। ग्वालियर, इन्दौर, धार एवं देवास स्टेट की 'सामलात कचहरी' सुन्दरगढ़ में थी। इससे यह पता चलता है कि सुन्दरगढ़ से पूरे मालवा क्षेत्र में नजर रखी जा सकती थी। 1857 की महान क्रांति के समय स्वयं तात्याटोपे मालवा में क्रांति की चिनगारी भड़काने के उद्देश्य से सुन्दरगढ़ में रहे थे। यदि मुगल सम्राट की कृति आइने अकबरी में वर्णित सुनेरी दरवाजा महाराजा दरवाजा वाले सुन्दरगढ़ को यही मान लें तो इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। सुनेरी दरवाजा सुन्दरबाई का ही स्वागत द्वार हो सकता है। यहाँ भगवतगढ़ की कोई विशेष चर्चा नहीं हुई है, क्योंकि इतिहास के पन्नों में यहाँ इतिहास का अध्याय सुन्दरगढ़ के नाम से ही प्रारम्भ होता है। पूर्व का इतिहास स्थानीय अरूचि एवं अनभिज्ञता के कारण धीरे-धीरे महान सम्राट विक्रमादित्य एवं उनकी बहन सुन्दरबाई के भव्य आभा मंडल में समाहित हो गया। और समय के क्रूर कालचक्र ने वैभवशाली सुन्दरगढ़ को आज अतीत का एक खण्डहर बना कर रख दिया। बदलते हुए परिवेश में विचार एवं भावों के साथ भाषा भी बदलती है, इसी कारण सुन्दरगढ़ जैसा दृढ़ शब्द भी वर्तमान में असहाय सुन्दरसी जैसे अपभ्रंश के आवृत्त में नजर आने लगा। शाजापुर जिले की शुजालपुर तहसील का सुन्दरसी गाँव आज भी अपने भग्नावशेषों में महाराजा विक्रमादित्य लाव-लशकर के पदचापों की आहट सुना करता है। प्राचीन नगर के बाहर एक बड़ा नाला था, जो नगर खाल के नाम से जाना जाता है। नगर खाल नगर को दो भागों में बाँटता है। नगर खाल से भगवान दत्तात्रय की एक सुन्दर मूर्ति मिली है, जिसे लोग ब्रह्मा की मूर्ति भी बताते हैं।

सन्दर्भ

1. एक और अवन्तिका सुन्दरगढ़-प्रकाशक : महाकाल हरसिद्धि आश्रम, सुन्दरसी, शाजापुर (म.प्र.)
2. चौमासा-सुन्दरसी की महाकाल सवारी, प्रकाशक : आदिवासी लोक कला परिषद, (म.प्र.)

लोकदेवी नर्मदा

वसंत निरगुणे

लोक में मानवीकरण की विधा बहुत पुरानी है। लोक में सजीव तो सजीव, नदी-पहाड़, पेड़-पौधे आदि सबके सब मनुष्य की तरह बातचीत करते हैं। मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति जड़ में भी होने लगती है। तब अलौकिक संसार की सृष्टि हो जाती है। संस्कृत नाटकों में नदियाँ पात्र बनकर आती हैं। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों को रूलाया है। पंचतंत्र, बेताल पंचविंशति आदि ग्रन्थों में पशु-पक्षी प्रमुख भूमिका निभाते हैं। यह सब लोक से ही आया है। गंगा मैया उसकी पावनता के कारण हैं, भले ही बाद में उसने कितने ही घर बहाये हों, कितनों को डुबोया हो, फिर भी उस रूप की पूजा की जाती है।

संसार की पवित्र नदियों में नर्मदा भी किसी से कम नहीं है। इसका महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि यह अखण्ड कुँवारी है। नर्मदा मैकल अर्थात् अमरकंटक पर्वत से निकलती है। इसलिए नर्मदा मैकल की बेटी है। लोकगीतों, लोककथाओं में नर्मदा के साथ उसके पिता अर्थात् मैकल पर्वत का मानवीय चित्रण मिलता है। लोक की दृष्टि ही कुछ भिन्न होती है, जिसमें भावनाओं की सृष्टि में एक अलग संसार बस जाता है। एक लोकगीत में देखिये नर्मदा के लिए-

हर हर नर्मदा माय बो।

तू तो मैकल की बेटी कवाय बो।

नर्मदा निमाड़ प्रदेश की जीवन रेखा रही है। नर्मदा का पावन निर्मल जल पीकर जहाँ के लोग अमरत्व की प्राप्ति करते हैं।

निमाड़ के जन-जीवन में नर्मदा इतनी घुल-मिल गई हैं कि नर्मदा के बिना जीवन अधूरा-सूना सा लगता है। नर्मदा निमाड़ के सुख-दुख की भागी भी हैं। कितने ही लोगों को नर्मदा ने वांछित फल प्रदान किये हैं। इसलिए नर्मदा का रूप लोकोपकारी हो गया है। भावुक नर-नारी इसकी मनौती लेकर फल मिलने पर 'मानता' उतारते हैं।

भारत नदियों की संस्कृति वाला देश है। भारतीय संस्कृति का विकास नदियों के किनारे ही हुआ। सिन्धु घाटी सभ्यता सारे विश्व में प्रसिद्ध और प्राचीनतम है। गंगाघाटी की सभ्यता सर्वज्ञात है। इसी प्रकार नर्मदा घाटी की सभ्यता भी अत्यन्त प्राचीन है। नर्मदा का वर्णन उपनिषदों-पुराणों में मिलता है। 'नर्मदाष्टक' संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है ही, पुराणों में नर्मदा का मनोहारी रूप भी मिलता है। मगर पर सवार नर्मदा देवी लाल साड़ी में अपने भक्तों को आशीर्वाद देते हुए दिखाई गई हैं। इसी रूप की कई तस्वीरे हमें दिखाई देती हैं। सम्पूर्ण निमाड़ में नर्मदा की मान्यता सर्वोपरि है। यहाँ नर्मदा संबंधी प्रचलित कई लोकमान्यताएँ हैं-

- (1) नर्मदा ही ऐसी नदी है जो 'अखण्ड कुँवारी' के रूप में पूजित हैं। वह भी माँ की तरह। कुँवारी होकर इतना बड़ा दर्जा किसी नदी अथवा देवी को नहीं मिला।
- (2) नर्मदा ही ऐसी नदी है, जिसकी श्रद्धा भक्ति से भक्त लोग पैदल ही पूरी परिक्रमा लगाते हैं। जनम-जनम के पापकर्म कट जाते हैं और जीवनमुक्ति का अनुभव करते हैं।
- (3) नर्मदा ही ऐसी नदी है, जो पूर्व से अर्थात् अमरकंटक से

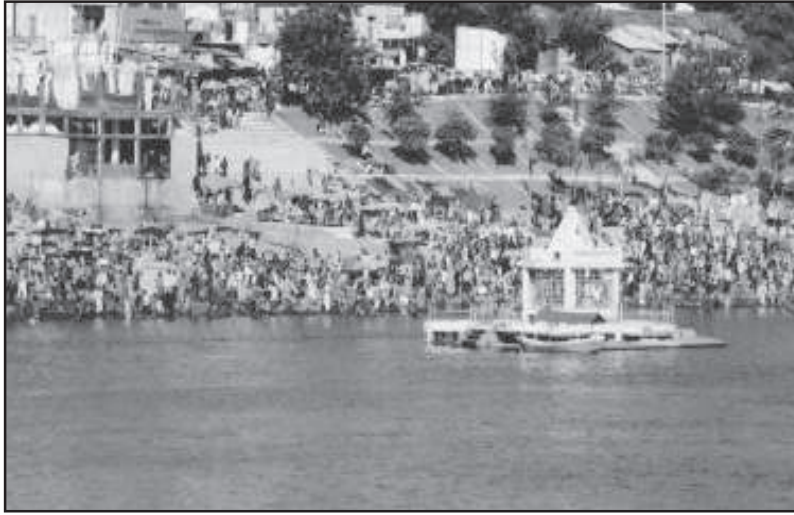
निकलकर पश्चिम अर्थात् भड़ौच में समुद्र समाहित होती हैं।

- (4) नर्मदा भारत के बीचोबीच बहने वाली नदी है। मुख्य रूप से नर्मदा ही उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत को विभक्त करती है।
- (5) गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, कृष्णा आदि पवित्र नदियों में नर्मदा का भी उतना महत्त्व है, जितना गंगा का है।

लोकविश्वास

नर्मदा सम्पूर्ण भारत में इतनी चर्चित रही हैं कि नर्मदा की कितनी ही किंवदन्तियाँ प्रचलित हो गई हैं। विशेषकर निमाड़ में जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, उनका उल्लेख यहाँ असंगत न होगा-

लोकगीतों और लोककलाओं में नर्मदा को अखण्ड कुँवारी मैया कहा है।



जनश्रुति है कि

एक बार तवा नद नर्मदा से विवाह करने के लिए बड़े लाव-लशकर और अकड़ के साथ आया, परन्तु नर्मदा ने अपने पेट में उसे भर लिया। अर्थात् उसे अपना बेटा बना लिया। इस प्रकार नर्मदा ने कुँवारी होकर भी माँ का पद प्राप्त कर लिया। आज भी जहाँ नर्मदा जल स्थिर रूप में बहता है, वहाँ नर्मदा के बीचोबीच तवा नद सफेद पारा सा दिखाई देता है। लोक में यही प्रचलित है कि यही वह तवा नद है।

सहस्रबाहु ने अपनी हजारों भुजाओं से महेश्वर में नर्मदा को रोकना चाहा लेकिन वह हर भुजा के बीच से हजारों धाराएँ बनाकर अजस्र रूप से बहती रहीं। तभी से महेश्वर

में वह स्थान जहाँ नर्मदा हजारों धाराओं से चट्टानों में राह बनाती है, वह 'सहस्रधारा' कहलाता है। महेश्वर में सहस्रधारा पर्यटकों का एक प्रमुख आकर्षण है।

महेश्वर में नर्मदा के बीचोबीच बाणासुर ने शिव को रिझाने के लिए कठिन तपस्या की थी। बाणासुर नर्मदा की बाढ़ में भी नहीं बह सका था और नर्मदा की कृपा से उसे शिव के दर्शन हुए थे। आज भी नर्मदा के बीच में बाणेश्वर का मन्दिर दर्शनीय है।

नर्मदा के जितने कंकर उतने सब शंकर। नर्मदा के आसपास के निवासी लोगों के चरित्र की व्याख्या इसी सूत्र से की जाती है।

यद्यपि नर्मदा की पावनता में दो मत नहीं हैं, तथापि एक नदी इसमें और मिल जाती

तो नर्मदा गंगा का पद प्राप्त कर लेती। नर्मदा की 999 सहायक नदियाँ हैं एक और मिल जाती तो पूरी हजार हो जाती।

नर्मदा एक पहाड़ी नदी है। इसलिए जन विश्वास इस प्रकार व्याप्त हो गया है कि नर्मदा किसी को अपना जल नहीं देती। फिर भी मांडू की रानी रूपमती की भक्ति और

निष्ठा देखकर नर्मदा मांडव के महलों में बने तालाब में गुप्त सी हो गई है। नर्मदा के दर्शन के लिए रानी रूपमती ने मांडव में इतना ऊँचा महल बनवाया कि वह नित्य सुबह नर्मदा के दर्शन कर सके। आज भी रानी रूपमती के महल से नर्मदा के दर्शन किये जा सकते हैं। इतनी ऊँचाई से नर्मदा एक श्वेत 'चिन्दी' के समान दिखाई देती हैं। नर्मदा के साथ-साथ अपने मायके निमाड़ को देखने की ललक भी रानी रूपमती में थी।

नर्मदा यदि जल नहीं देती तो इंदौर वासियों की करोड़ों रूपयों की योजना अधूरी ही रह जाती। जनवरी, 1978 से नर्मदा का जल इंदौर में मिल रहा है। फिर भी लोगों का पुरातन विश्वास टूटा नहीं है कि नर्मदा जल नहीं देती है। शायद उसकी गरिमा को कम रूप में कोई भी नहीं देखना चाहता।

महेश्वर और ओंकारेश्वर में नर्मदा का

'थाह' पाना मुश्किल है। शायद यह नर्मदा के जल की गंभीरता की अतिशयोक्ति है।

नर्मदा लोक देवी के रूप में आज भी पूजित है। नर्मदा का जल चाहे कहीं भी ले जाइए, उसे प्राप्त कर उसी प्रकार की पवित्रता का अनुभव होता है, जैसे गंगा जल को प्राप्त करने से।



दिवासा और नारोड़ा बाबजी

डॉ. रामसिंह यादव

मध्यप्रदेश का आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र झाबुआ, इस अंचल के आदिवासी कई जातियों में विभक्त हैं। भील, भिलाला, बवेरिया, कोटवाल आदि उपजातियाँ आदिवासी जाति में हैं, जो इस अंचल में निवास करती हैं। इनका मुख्य धंधा कृषि है। इनकी आवश्यकताएँ सीमित हैं। मक्का व ज्वार की रोटी, शराब तथा सिर छिपाने के लिये झोपड़ी और नाममात्र के कपड़े हैं। झाबुआ अंचल में उपजाऊ भूमि न होने से ये आदिवासी अत्यधिक गरीब, किन्तु बहुत परिश्रमी हैं। परिश्रम के मामले में इन आदिवासियों का कोई सानी नहीं है।

बारिश होने की संभावना को भांपकर ये आदिवासी फसल बो चुके होते हैं। बीज धरती का सीना फाड़कर बारिश के शुरू होते ही ऊँचाईयाँ बढ़ाने लग जाते हैं। चारों ओर उभरती हुई हरियाली झाबुआ जिले की उबड़-खाबड़ भूमि को अपनी प्राकृतिक सुन्दरता का गहना पहनाने लगती है।

प्रकृति के इस उदार दान से चारों तरफ हरीतिमा छा जाती है। बरसाती मौसम में यहाँ का आदिवासी जन अपनी पारम्परिकता का निर्वहन करने में लग जाता है। जमीन की व्यवस्थित देखभाल, निराई, बुआई के साथ वह सतर्क हो जाता है कि उसकी पैदा होने वाली फसल में कहीं गेरू आ न जाए। जंगली पशु-पक्षी उसकी फसल को उजाड़ न दें, बर्बाद न कर दें। कहीं अनावृष्टि से पानी की कमी न हो जाए। चोर-चोरी करके फसल न लें जाए। अदावी (अदावत वाले लोग) उसकी फसल को चौपट न कर दें, इसके लिए

वह धनहीन और साधनविहीन किसे पुकारे? किसकी मनुहार करे। उस परम पिता परमात्मा पर उसको पूरा विश्वास है। जिसने जीवन दिया है वह चुन भी देगा। रक्षा भी वही करेगा। आदिवासियों के गहन चिंतन का परिणाम है- महापर्व 'दिवासा'।

दिवासा यानी अपने चिर-परिचित दैवीय रक्षक 'बाबदेव' को मनाने का त्योहार। बाबदेव यानी आस्था और विश्वास का प्रतीक चिन्ह, उनकी सुरक्षा की ईश्वरीय गारंटी। आखिर कौन हैं ये बाब या बाबादेव। शायद रामदेव पीर एक प्रसिद्ध संत, जो भोले-भाले प्रकृति पुरुषों की जुबान तक आते-आते बाबादेव ही रह गये हैं। इसका प्रमाण

है बाबा देव (रामदेव) को चढ़ाये जाने वाले मिट्टी के घोड़े। वैसे इन आदिवासियों के पास श्रद्धा और त्योहारों की कमी नहीं है। अनेक त्योहार हैं इनके पास भगोरिया, नवई, माण्डे, घोड़े, दशहरा, दीपावली, होली आदि। परन्तु किसी भी आदिवासी से उसकी अंतरात्मा की

गहराई तक जाकर पूछा जाए तो वह एक ही बात कहेगा कि 'दिवासा' ही उसका महापर्व है- 'सबती मोठो तिवारा।'

जुलाई की पूर्णिमा से अमावस्या तक कभी भी मनाया जाने वाला यह त्योहार 'दिवासा' अपने आपमें विविधता भरा तो है ही, परन्तु उनकी अपनी संस्कृति व आस्थाओं से परिपूर्ण भी है।

आस्थाओं का प्रतीक इसलिए कि जब तक वे बाबादेव की पूजा करेंगे नहीं, तब तक किसी भी शर्त पर अपने खेतों की निदाई-गुड़ाई, जुताई नहीं करेंगे। भले ही खेतों में उनके घास-फूस कितनी ही बढ़ जाए। संस्कृति का प्रतीक इसलिए कि वे चाहे जितने सभ्य या सुसंस्कृति हो जायें, चली आ रही अपनी

मान्यताओं, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों और प्रथाओं के अनुरूप ही मनायेंगे।

प्रत्येक परिवार का यह वैयक्तिक समारोह लगता है। अगर उड़ती दृष्टि से देखा जाए तो ऐसा ही अनुभव होता है, परन्तु है यह वास्तव में सामुदायिक परम्परागत त्योहार। बाबा देव से सम्बन्धित सभी क्रिया-कलाप सामूहिक रूप से सम्पन्न किये जाते हैं। यदि गाँव में किसी की मृत्यु हो जाए या कोई व्यक्ति गम्भीर रूप से बीमार पड़ा हो- मरणासन्न हो, तब इस त्योहार की तिथि आगे बढ़ा दी जाती है। आसपास के समीपस्थ ग्रामों में

अलग-अलग दिन मनाया जाता है, ताकि आसपास बिखरे परिवार के सदस्य व रिश्तेदार सभी 'दिवासा' में सम्मिलित हो सकें।

गाँव के पटेल, पंच-सरपंच, कोटवार, चौकीदार व बड़े-बूढ़े मिलकर यह तय करते हैं कि दिवासा कब मनाया जाए। दिन तय

करने में बड़वे की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। बड़वा ही शुभदिन तय करता है। उसका दिन तय करने का तरीका भी पारम्परिक है। खाटले (सप्तऋषि मण्डल) का चाँद की सुद (सीध) में आ जाना। दिन तय किये जाने के बाद समाज के बड़े-बूढ़े, जवानों-बच्चों सभी का उत्साह देखते ही बनता है। सभी परिचितों एवं मिलने-जुलने वालों को 'तिवार दिवासा' मनाने के लिए न्यौता भेजा जाता है। कस्बों से समान की खरीद-फरोख्त शुरू हो जाती है।

दिवासे के एक दिन पूर्व संध्या समय गाँव प्रमुख 'बड़वा' और गाँव वाले 'बाबादेव' के पास पहुँच जाते हैं। बाबादेव की मूर्ति नहीं होती, बल्कि एक पेड़ 'ओहले' का होता है। ओहले के अभाव में पीपल, बड़ या सागौन का पेड़ भी प्रतीक होता है।



‘बाबादेव’ के पेड़ को किन्हीं भी परिस्थितियों में कोई भी न तो अपवित्र करता है और न ही उसे क्षति पहुँचाता है। यह बहुत ही पवित्र माना जाता है।

म्हारो बाबो वारू रे।

आपसे कुकड़ी दारू रे।

सारी रात बाबा देव के गीतों का गायन होता है। ढाँक (एक विशेष प्रकार का डमरू वाद्य) की ध्वनि के साथ स्वर गूँजते हैं- ‘म्हारो बाबो वारू रे, आपसे कुकड़ी दारू रे।’ (मेरा बाबा बहुत अच्छा है। खाने के लिए मुर्गियाँ और पीने के लिए दारू (शराब) देता रहेगा।)

कभी हूँ-हूँ-हूँ-हूँ की ध्वनियों के तारतम्य के साथ बड़वे का बालों और गर्दन को झटके देने की विशेष अदाएँ क्रमबद्ध चलती है, तो थोड़ी देर बाद फिर स्वर फूटते हैं-

बाबा ना राज मां फसल बारू पाक से,

फसल वारू पाक से न सुबका पेट थापसे।

बाबा के राज्य में फसल अच्छी पकेगी और सभी पक्षी को भरपेट अन्न मिलेगा।

चाँदनी रात में ढोल की आवाज तथा बड़वे का अनवरत अथक नृत्य जादू सा सम्मोहित कर देता है, परन्तु सूरज विघ्न डाल ही देता है। सुबह होने लगती है, साथ ही नृत्य व संगीत तेज और तेज होता जाता है। बीच-बीच में ताड़ी व दारू भी उदरस्थ होती रहती है। अटपटे, बेसुरे, मगर जीवित गीत अपनी छटा बिखेरते जाते हैं। इसी बीच आठ-नौ बजे के आसपास थाली में सजाकर लाया जाता है- कुंकुम, अबीर, टोंकी (बिदियाएँ), नायल (नारियल), अगरबत्ती, चावल, खीर (दूध दलिया से बनी), नाड़ा (सूत का धागा) दीया तथा साथ ही बकरा, मुर्गियाँ व पाँच फीट लम्बाई की दस लकड़ियाँ और थोड़ी सी गेरू मिट्टी होती है।

बड़वा उन लकड़ियों पर गेरू पोतकर निश्चित आकार देते हुए उन्हें जमीन में इस प्रकार गाड़ता है कि उनका कुछ भाग जमीन के बाहर निकला रहे। यह वध स्थल का काम करता है।

उन पर जलते हुए दीये रखे जाते हैं। कुंकुम, टीकी, नारियल आदि से बड़वा पूजन करवाता है। बाबादेव को धार (शराब गिराना) देता है। फिर सभी को उसका प्रसाद बाँटता है। बलि के लिए बकरा प्रायः गाँव भर से चंदा इकट्ठा करके खरीदा जाता है। बलि के उस बकरे के मांस में से बड़वा बकरे का सिर अपने पास रखकर शेष हिस्सा बाँटने के लिये दे देता है। इसके बाद यही स्थिति अनेक मुर्गे और मुर्गियों की भी होती है।

इसके साथ ही बड़वे की पूजा समाप्त होती है तथा शेष लोग क्रमशः पानी छींटकर कंकू-चावल से पूजन करते हैं तथा बाबादेव को प्रसन्न करने के लिए मिट्टी के घोड़े चढ़ाते हैं। पूजन वे ही लोग करते हैं, जो उस दिन उपवास रखते हैं। घोड़े चढ़ाने का यह क्रम विशिष्ट होता है। मान लेने (मन्त) के लिए उल्टे घोड़े तथा मन्त पूरी हो जाने पर सीधे घोड़े चढ़ाये जाते हैं। चढ़ावे की शर्त प्रायः बकरा व मुर्गियाँ होती हैं, जिनको बलि देकर प्रसाद के रूप में तत्काल बाँट देते हैं।

दिन चढ़ने के साथ लौटते कदमों का गीत जंगल की घाटियों में गूँजने लगता है और घर पर गुड़ और तेल मिले चावलों के स्वाद के एहसास से बच्चों के कदम तेज गति से घर की ओर दौड़ने लगता है। हँसी-ठहाके हरियाली को हर्षित कर जाते हैं तो उनके गिले-शिकवे फुहारों में बह जाते हैं।

पान माता और नारोड़ा बावजी

नीमच जिले की मनासा तहसील के गाँव ‘पड़दा’ की यह कथा है, जहाँ भगवती पान माता और नारोड़ा बावजी की तंबोली चौरसिया समाज के द्वारा प्रतिवर्ष अपार उत्साह, उमंग और धूमधाम के साथ शरद पूर्णिमा उत्सव मनाया जाता है। तंबोली समाज (चौरसिया) विशेषकर पान की खेती करने वालों के लिए यह दिन अति महत्त्वपूर्ण होता है, जो दशहरे के दूसरे दिन एकादशी से प्रारम्भ होकर पूर्णिमा तक चलता है। शरद पूर्णिमा के दिन माँ भगवती ‘पान माता’ की विशेष पूजा तथा पनवाड़ियों के रक्षक सात्विक प्रेत नारोड़ा बावजी की तांत्रिक क्रिया के साथ सैकड़ों लोगों की मौजूदगी में विशेष पूजा सम्पन्न होती है।

एकादशी को गाँव के मंदिर में प्राकृतिक व अन्य आपदाओं-संकटों से पनवाड़ी की रक्षा करने वाले प्रेत नारोड़ा बावजी की स्थापना वन तुलसी के पौधों से की जाती है। चार बाँसों पर जमीन से डेढ़-दो फीट ऊँची जगह छोड़कर आसन तैयार किया जाता है। उसके पश्चात् तीन ओर से घिरी और एक ओर दरवाजानुमा छोड़ी हुई लगभग चार फुट ऊँची शंकाकार आकृति का निर्माण किया जाता है। इसके भीतर घी का एक बड़ा दीपक रखा जाता है। नारोड़ा बावजी के इस प्रतीक को फूल-मालाओं से सुसज्जित कर दिया जाता है। एकादशी से पूर्णिमा तक प्रतिदिन सायंकाल इन्हें मंदिर से उठाकर प्रत्येक चौरसिया तंबोली समाज के घर ले जाया जाता है। वहाँ दीपक में घी अर्पित कर धूप लगाकर पूजा की जाती है। नारोड़ा बावजी को पूजा के लिए वही युवक ले जाता है, जिसकी इसी वर्ष हाल में शादी हुई है।

नारोड़ा बावजी से जो कोई व्यक्ति मन्त मांगता है, उसकी मन्त पूरी होती है। मन्त पूरी हो जाने पर वह व्यक्ति अपने परिवार सहित शरद पूर्णिमा को लाड़ी पन्नाने (विवाह) की घोषणा करता है। लाड़ी पन्नाने से आशय नारोड़ा बावजी का विवाह करना होता है। इसके लिए वही प्रक्रिया अपनाई जाती है। दशहरे के दूसरे दिन से ही संबंधित परिवार या व्यक्ति अपने घर पर लाड़ी (बहू) की स्थापना करता है। यह लाड़ी (दुल्हन) एक 'मटकी' होती है, जिसे बाँस की तिपाई पर रखकर भीतर एक जलता हुआ दीपक रखा जाता है। बाहर से दुल्हन जैसा सजाया जाता है। एकादशी से पूर्णिमा तक बंदोली निकाली जाती है। कोई व्यक्ति अपनी इच्छा-प्रसन्नता से भी नारोड़ा बावजी का विवाह करने की रस्म करता है।

शरद पूर्णिमा को प्रातःकाल से ही सभी चौरसिया तंबोली समाज के व्यक्ति सपरिवार वन में स्थित माँ भगवती पानमाता के मंदिर में जाते हैं। स्नान, ध्यान, यज्ञ, पूजा-पाठ करते हैं। मालवा (मध्य भारत) का प्रसिद्ध भोजन (दाल-बाफले, बाटी, चूरमा के लड्डू) तैयार करते हैं। इष्ट मित्रों को आमंत्रित करते हैं। पारिवारिक तथा सामूहिक रूप से भोज होता है। प्रत्येक परिवार पान अर्पित कर पानमाता की पूजा करता है। वन के इस मंदिर में दिन भर भक्ति की मधुर ध्वनि गूंजती रहती है। सायंकाल महिलाएँ माता

देवी के मंदिर के सामने बैठ गीत-भजन गाती हैं। ढोल-ढमाके, बेंड-बाजों की धुन पर माता तथा मंदिर के समक्ष स्थापित अन्य देवी-देवताओं की आरती-पूजा की जाती है। विशिष्ट या बुजुर्ग व्यक्तियों में से एक-दो को परंपरागत रूप से माँ भगवती पान माता व नारोड़ा बावजी का भाव आता है।

इस दौरान व्यक्ति उनके सामने अपनी-अपनी समस्याएँ रखते हैं, आँखें (ज्वार, अन्न के दानों की शुभ संख्या) लेकर समाधान पूछते हैं। मन-ही-मन मन्त माँगते हैं। आरती और भाव समाप्ति के पश्चात् सभी महिलाएँ-पुरुष गीत गाते हुए, पटाखे छोड़ते, बेंड-बाजों के साथ लौटते हैं।

गाँव के इस मंदिर पर आकर कुछ समय विश्राम करने के पश्चात् नारोड़ा बावजी को पुष्प मालाओं से सजाकर विवाह के लिए 'मोड़ बांधकर' (दूल्हे) सजाया जाता है। सभी स्त्री-पुरुष, बच्चे-बाराती बनकर नारोड़ा बावजी की बिंदोली (शोभा यात्रा) निकालते हैं। लाड़ी वाले के घर बारात पहुँचती है, बारातियों द्वारा नारोड़ा बावजी की पूजा की जाती है। साथ आये बारातियों का आत्मीय स्वागत किया जाता है। इस प्रकार पूर्णिमा की यह अर्धरात्रि व्यतीत हो जाती है। विवाह के इस जश्न के बाद सभी बाराती-घराती लाड़ी को लेकर हर्षोल्लास से वापस गाँव के मंदिर पर आते हैं, और शेष रस्म पूरी करते हैं। गीत-भजन होते हैं, प्रसाद वितरण होता है। बच्चे, महिलाएँ व अधिकांश व्यक्ति घर लौट जाते हैं। समाज के कुछ व्यक्ति 'लाड़ा-लाड़ी' के विसर्जन के लिए रुक जाते हैं।

रात्रि के लगभग दो-तीन बजे चार-पाँच जन नारोड़ा बावजी के प्रतीक एवं मटकी रूपी दुल्हन को उठाकर गाँव से कुछ दूर खाल किनारे ले जाते हैं। अंतिम पूजा कर उन प्रतीकों को आस्था-सम्मान से खोलकर जल में विसर्जित कर त्वरित लौट आते हैं। लौटते समय विसर्जित स्थान को पीछे मुड़कर नहीं देखते, इसकी मनाही है।

एक कथा के अनुसार गाँव में एक तंबोली रहता था। गाँव के पास ही उसका खेत था। तंबोली वहाँ पान की खेती करता था। एक दिन वह अपने खेत पर काम कर रहा था। एक अजीब सा

दिखायी देने वाला आदमी उसके पास आकर बोला- 'ए भाई! मेरी जमीन पर तू यह क्या कर रहा है।' तंबोली ने उस व्यक्ति को अचरज से देखा और कहा- 'अरे भाई! मैंने तुझे पहले कभी नहीं देखा और तुम कहते हो कि खेत मेरा है?' वह आदमी बोला- मेरा क्या, मैं दिखता भी हूँ, नहीं भी दिखता। तुमने मुझे नहीं देखा, तो मैं क्या करूँ?

मेरा क्या मैं कहीं भी रह सकता हूँ, कुछ भी कर सकता हूँ। यह खेत तो मेरे ही है। तंबोली ने कहा- 'क्या इतनी शक्ति तुममें है कि तुम क्षण भर में कुछ भी कर सकते हो?', वह आदमी बोला- हाँ, लो देखो। उस आदमी के ऐसा कहते ही तंबोली के खेत में जोर से आँधी चलने लगी, तंबोली घबरा गया। उसने आँधी-तूफान रोकने की विनती की तो आँधी थम गयी। तंबोली ने उस दिव्यशक्ति को पान की खेती हित में करने की सोचकर उस व्यक्ति से कहा- 'यदि ऐसा है तो मेरी भी एक शर्त है कि इस टोकरे में रखे पान की कलियों को बिना हटाये तत्काल गिनकर बता दो कि कुल कितने पान हैं, तो यह खेत मैं छोड़ दूँगा।'

इतना सुनकर वह आदमी हँसा और बोला- 'मैं तो इनको इसी समय गिन सकता हूँ। लेकिन यदि तू इस खेत के पास खड़े वट वृक्ष के पत्ते सही-सही गिन दे तो मैं तेरा गुलाम बन जाऊँगा। तेरी पान की खेती की निगरानी किया करूँगा। तंबोली ने अपने चूने की मटकी ली और वट वृक्ष पर चढ़ गया। प्रत्येक पत्ते पर चूने से निशान लगा-लगाकर सभी पत्ते गिन लिये। गिनती सही हो इसके लिए कत्थे की मटकी लेकर निशान लगाकर दूसरी बार भी सब पत्ते गिन डाले। शर्त के मुताबिक सायंकाल उस

व्यक्ति ने आकर वट वृक्ष को देखा तो प्रसन्न हो गया। सारे पत्ते सुन्दरता से गिने देखकर उस ने प्रसन्न होकर तंबोली से कहा- 'अच्छा, अब तुम घर जाओ और कल प्रातःकाल आकर अपने खेत को देखना।' यह कहकर वह ओझल हो गया। दूसरे दिन प्रातः तंबोली ने आकर देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। उसके खेत में नागर बेलें (पान की) झूम रही हैं और चारों ओर सुरक्षा की व्यवस्था कर रखी है। वह आदमी कहीं दिखायी नहीं दे रहा है। तंबोली ने मन ही मन सायंकाल तक उस आदमी की प्रार्थना की।

सायंकाल वह व्यक्ति तंबोली के समक्ष प्रकट हुआ, तो तंबोली ने कहा- 'कृपाकर बताइए आप हैं कौन?' उत्तर देने के स्थान पर उस आदमी ने आशीर्वाद के लिए हाथ उठाया और हँसते हुए कहा- 'मैं जो कोई भी हूँ, तुमसे प्रसन्न हूँ। आज से नागर बेल (पान की) और समस्त पनवाड़ी को आँधी-तूफान से कोई नुकसान नहीं होगा। 'चूने-कत्थे की मटकी और पान हमेशा बना रहे।' यह कहकर वह आदमी ओझल हो गया और एक विशेष मुग्ध करने वाली गर्जन ध्वनि उस तंबोली को सुनाई दी। ध्वनि सुन तंबोली के मुख से अचानक निकल पड़ा- 'नारोड़ा बावजी' की जय। उस दिन शरद पूर्णिमा थी। उस दिन से यह त्योहार मनाया जाने लगा। परम्परा से चले आ रहे इस उत्सव को तंबोली (चौरसिया) समाज द्वारा पड़दा- कुकड़ेश्वर ग्रामों के साथ मंदसौर जिले के भानपुरा क्षेत्र में भी मनाया जाने लगा है। बुजुर्ग पनवाड़ी (पान की खेती का धंधा) करने वालों की रक्षा-समृद्धि के लिए इस पूजा-प्रक्रिया को तांत्रिक क्रिया से किया जाता है, ताकि बावजी की प्रसन्नता बनी रहे।

निमाड़ी लोकोक्तियाँ

डॉ. सुमन चौरे

भाषा चिंतन और अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। पंडित कामता प्रसाद गुरुजी के अनुसार- 'भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली-भाँति प्रकट कर सकता है, और दूसरों के विचार स्पष्टतया समझ सकता है।' सामान्यतः बोली शब्द का प्रयोग भाषा के पर्याय के रूप में होता है। बोली में ग्राम्य शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। लोक-साहित्य की रचना बोली में होती है।

बोलियाँ और लोकभाषाएँ उन सहायक नदियों की तरह होती हैं, जो लोकजीवन से आत्मसात् होकर अपने तट पर बसने वाली जनता की सभ्यता, संस्कृति और विपुल शब्द सम्पदा से भाषा को समृद्ध करती आयी हैं। बोलियाँ ही भाषा की स्रोत हैं। भाषा में बोलियों की कहावतें और मुहावरे प्रयोग में लाए जाते हैं। लोकोक्तियाँ साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

निमाड़ी बोली जहाँ एक तरफ लोकगीत और लोकथाओं से सम्पन्न है, वहीं दूसरी तरफ उसमें लोकोक्ति या मुहावरे भी प्रचुर मात्रा में हैं। ये बोली में रोचकता प्रदान करते हैं। लोकोक्तियों द्वारा किसी कथ्य में तीव्रता एवं प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। लोकोक्ति का सामान्य अर्थ है- 'लोक उक्ति'। किन्तु लोगों द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली हर उक्ति लोकोक्ति नहीं होती है। डॉ. कृष्णलाल हंस ने कहा है- 'वर्षों के अनुभव के पश्चात् किसी विशेष वस्तु, स्थान, समय या स्थिति के संबंध में जिस निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचे, वही निष्कर्ष लोकोक्ति के रूप में व्यक्त हुआ है।'

भारतीय लेखकों में लोकोक्ति की सर्वसुन्दर परिभाषा डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने प्रस्तुत की है। उनका कहना है— 'लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं।' मालवी के लोकसाहित्यकार डॉ. श्याम परमार ने कहा है— लोकोक्तियाँ लोक साहित्य में सामान्यजन के अनुभव की परिचायक हैं। निमाड़ी के मूर्धन्य विद्वान पण्डित रामनारायण उपाध्याय ने लोकोक्तियों के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है— 'लोक कहावतों, लोकोक्तियों को यदि सामाजिक न्याय की चलती-फिरती अदालत कहें तो भी अत्युक्ति नहीं।' लोकोक्ति या कहावत को निमाड़ी में 'कैणात' कहते हैं। लोकोक्तियों की यह खासियत है कि किसी बड़े से बड़े विवाद का कम से कम समय और शब्दों में अचूक निर्णय देने की इनमें अद्भुत क्षमता होती है। दलीलें एवं उपदेश जहाँ हार जाते हैं, वहाँ ये ही लोकोक्तियाँ कहावतें अपना रंग जमाती आई हैं, ये शिलाओं पर अंकित राज-आज्ञाएँ नहीं, वरन् मानव हृदय से अद्भुत भावनाओं के ऐसे पक्षी हैं, जो एक ओंठ से दूसरे ओंठ पर उड़ते शताब्दियों के ओर-छोर नापते आये हैं। ये विचारों के तिनकें हैं, जो डूबते को उबरने का सहारा दे जाते हैं।

लोकोक्तियाँ आदिकाल से चले आ रहे मनुष्यों के व्यवहार की निचोड़ हैं। इनके प्रयोग से भाषा में विलक्षण शक्तियाँ तो आती ही हैं, साथ ही ये बहुउद्देशीय आयाम भी पूरे करती हैं। निमाड़ी के विद्वानों ने निमाड़ी लोकोक्तियों या कहावतों का विभाजन किया है। डॉ. कृष्णलाल हंस ने इन्हें तीन भागों में विभक्त किया है— स्वरूप के अनुसार, स्थान के अनुसार और विषय के अनुसार।

पंडित रामनारायण उपाध्याय ने इन्हें चार भागों में विभक्त किया है— खेती और वर्षा सम्बन्धी कहावतें, सामाजिक कहावतें, उपदेशात्मक कहावतें और साहित्यिक कहावतें। विद्वानों के इस विभाजन एवं लोकोक्तियों का अध्ययन करने के पश्चात् निम्नानुसार चार भागों में विभक्त किया जाना उचित है— कृषि एवं ऋतु सम्बन्धी, पारिवारिक-सामाजिक, उपदेशात्मक और प्रकीर्ण लोकोक्तियाँ (कहावतें) (वृक्ष, पशु, पक्षी और अन्य के व्यवहार सम्बन्धी)।

कृषि एवं ऋतु सम्बन्धी

इन कहावतों में खेती से सम्बन्धी ज्ञान होता है। निमाड़ी बोली का क्षेत्र कृषि प्रधान क्षेत्र है। यहाँ की कहावतों में कृषि एवं ऋतु सम्बन्धी ज्ञान भरा पड़ा है। यह ज्ञान सामान्यजन के अनुभव एवं निरीक्षण पर आधारित है।

*खाँदऽ कुल्हाड़ी माथऽ पाणीऽ
सब धंधा मंऽ खेती राणीऽ।*

कंधे पर कुल्हाड़ी अर्थात् कृषि सम्बन्धी औजार लेकर एवं गिरते पानी की परवाह किए बिना, यदि किसान अपने कृषि कार्य में लगा रहे, तो कृषि व्यवसाय श्रेष्ठ है।

खेती धणी सेती

अर्थात्—खेती तभी लाभदायक है, जब स्वयं मालिक खेती करे। बीज बोने के पहले की सावधानियों को कितने अच्छे से समझाया है, इस लोकोक्ति में —

घऊँ रेळवी नऽ, साळऽ जेळवी नँऽ वावूणूँ।

गेहूँ को बोने के पहले खेत को सींचना और धान बोने से पहले खेत को अच्छे से जोत लेना चाहिए। किसान को खेती से लेकर थाली तक की सीख इस लोकोक्ति में मिलती है।

*पाणी पयलऽ पाळऽ
आटो पयलऽ दाळऽ*

किसान को खेत सींचने से पहले पाला (नालियाँ) बना लेना चाहिए, जिससे खेत में समान पानी चले। उसी प्रकार आटे से पहले दाल की तैयारी करना चाहिए। खेती वर्षा पर निर्भर है। उसी आधार पर किसान अपनी फसल बोने से लेकर उसके घर आने तक उसकी साज-समहाल करता है।

किस नक्षत्र में वर्षा अधिक या कम होगी। किस नक्षत्र का जल खेती के लिए श्रेष्ठ और किस नक्षत्र का जल नुकसानदायक होता है, कहावतों में उनका जिक्र मिलता है—

अश्लेषा बाळऽ नंऽ मघा बाळऽ

अश्लेषा नक्षत्र में अगर धूप गिरी तो फसल जल जाती है। और मघा नक्षत्र का जल खेती के लिए अमृत तुल्य है।

स्वाति नक्षत्र की वर्षा अति उत्तम है, इस विषयक यह लोकोक्ति है-

बरसऽ स्वाती तो पोवऽ मोती

स्वाति नक्षत्र में अगर वर्षा होती है, तो इतना अन्न उपजता है कि किसान मोतियों से लद जाता है। अर्थात् धन बरसता है।

बरसऽ उत्तरा तो अन्न नी खाय कोल्ह्या कुतरा ॥

अगर उत्तरा नक्षत्र में वर्षा हो तो फसल सड़कर नष्ट हो जाती है। सड़ांध से उसे पशु (सियार और कुत्ते) भी नहीं खाते।

मघा नक्षत्र की जल वृष्टि धरती को तृप्त कर देती है। इस कहावत में माँ और संतान के माध्यम से समझाया है-

मघा को बरसऽणू नऽ माँयऽ को परसणू

मघा नक्षत्र की वर्षा से धरती तृप्त हो जाती है, जैसे माँ अपनी संतान को लाड़-प्यार से भोजन परोसती है, वैसे ही मघा की वृष्टि धरती की भूख प्यास बुझाकर उसे संतुष्ट कर देती है।

पारिवारिक एवं सामाजिक

मानव के अध्ययन, उसकी भाषा, साहित्य तथा संस्कृति के अध्ययन के लिए लोकोक्तियाँ एक अमूल्य साधन हैं। निमाड़ी लोकोक्तियों में भी सामाजिक जीवन एवं प्रवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। इन लोकोक्तियों में सामाजिक-जीवन के विभिन्न अनुभवों का तथ्य मिलता है।

निमाड़ी साहित्य में व्यक्ति के स्वभाव, पारिवारिक आचरण, रीति-रिवाज एवं नैतिक दायित्वों सम्बन्धी लोकोक्तियाँ भी हैं, जो लोग अनर्गल बातें करते हैं, उनके कथ्य में कोई तथ्य नहीं होता, ऐसे व्यक्ति के लिए कहते हैं-

उठाई जीबऽ नऽ लगाई टाळवऽ सऽ।

अर्थात् जीभ उठाई और तालू से लगा दी। पारिवारिक रिश्तों में सौत का रिश्ता बहुत ही बुरा माना जाता है। इस विषयक एक लोकोक्ति है-

बैंधऽ तो लाकड़ा की भी बुरी

अर्थात् सौत अगर लकड़ी की भी हो तो वह बुरी होती है। पारिवारिक रिश्तों में आपसी मतभेद, मनमुटाव होने के बावजूद भी जब कोई पारिवारिक कार्य होता है, तो सब सदस्य एक हो जाते हैं। इस अवसर की सटीक उक्ति है-

झाड़ऽ का फूलऽ झाड़ऽ का हेटजऽ पड़जऽ

अर्थात् वृक्ष के फूल वृक्ष के नीचे ही गिरते हैं। बहुधा परिवार में अन्यान्य कारणों से भाइयों में मन-मुटाव जैसी स्थिति आ जाती है। खून के रिश्ते कभी टूटते नहीं, कुछ समय का अलगाव जरूर हो जाता है। ऐसे अवसरों पर कहते हैं-

लाकड़ी मारनऽ सी कई पाणी अल्लग नी होतो

लकड़ी मारने से पानी कभी भी दो हिस्सों में नहीं बँटता। निर्धनता में भी परिवार को पालने के धैर्य और साहस के लिए लोकोक्ति है-

पेटऽ में पाळ्या तेऽ कई होंडी मऽ समाणऽ का

अर्थात् पेट (गर्भ) में पाल लिया तो क्या हाण्डी में नहीं समा सकते।

बच्चों के विवाह आदि के लिए सम्बन्ध तय करने पर निर्देश हैं-

वर देखणूँ परऽ घरऽ नी देखणूँ

अर्थात् योग्य पात्र का चयन करना चाहिए, घर और पैसा तो द्वितीयक होता है। योग्य वर होगा तो पैसा कमा ही लेगा।

इसी प्रकार बेटे-बेटी का वैवाहिक सम्बन्ध तय करने से पूर्व रखी जाने वाली सावधानियों में से एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण सावधानी को व्यक्त करने वाली एक उक्ति है -

बवू लेवऽ गरीबऽ की

नऽ बेटी देवऽ हरीब खऽ

बेटे के लिए बहू लाना हो, तब चयन के समय यह सावधानी ध्यान में रखना चाहिए कि गरीब घर की लड़की हो और जब बेटी देना हो तो अमीर घर में देना चाहिए। इससे बहू के पीहर में आदर मिलता है।

अवसरवादिता पर गहरा कटाक्ष करने वाली लोकोक्ति है-

भातऽ छोड़नू पणऽ साथऽ नीऽ छोड़नू।

अर्थात् भात (भोजन) छोड़ देना, पर जिसका साथ किया है, उसका साथ कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

नीच प्रवृत्ति एवं अपने वचनों पर अडिग नहीं रहने वाले व्यक्ति के लिए कहते हैं -

थूकी नऽ चाटऽजऽ

वह थूक कर चाटता है।

सामाजिक-पारिवारिक रिश्तों में जब खोट या तनाव की स्थिति निर्मित होती है, तो कहते हैं एक का नहीं, वरन् दोनों पक्षों का दोष है-

भथापड़ी नऽ कईऽ एक हाथऽ उ वाजऽ

अर्थात् कभी भी ताली एक हाथ से नहीं बजती।

सदा सर्वदा अपने आप पर भरोसा रखने वालों अर्थात् आत्मविश्वासी के लिए कहते हैं-

अपणी आसऽ नऽ चुल्हा पासऽ

अपनी आस और चुल्हा पास यानि अपनी आशा अपने घर में ही पूर्ण होती है।

पूरे परिवार का परिचय केवल एक सदस्य के व्यवहार से ही हो जाता है-

हण्डली को एकजऽ चोखो चापल्यो जायजऽ

हंडी में पकने वाले भात का केवल एक ही दाना परखा जाता है।

माँ के स्वभाव का प्रभाव बेटी पर भी पड़ता है। इसको व्यक्त करने वाली लोकोक्ति है-

माँयऽ कुआँ मऽ पड़ऽगऽ

तो बेटी पायँऽ तो रूखावऽजऽ गाऽ।

माँ कुएँ में कूदेगी, तो बेटी कुएँ में पैर तो अवश्य ही लटकायेगी।

घोर विपत्तियों से घिरे असहाय व्यक्ति के लिए सहायता करने के इच्छुक व्यक्ति कहते हैं-

बादळऽ फाटऽ ते काँऽ काँऽ थेंगळऽ लगावाँ।

बादल फटें तो उनमें कहाँ-कहाँ थेंगले (पैबंद) लगाएँ।

अनायास आए किसी बड़े संकट से घिरे अकेले व्यक्ति के प्रति सहानुभूति में कहा जाता है-

एकलो कुतरो भूखऽ कि कानसऽर्या ले

अर्थात् अकेला कुत्ता गाँव पर आये संकट की सूचना दे, कि आने वाली मुसीबत के लिए चौकस रहे।

उपदेशात्मक

लोकोक्तियाँ नीति के सूत्र हैं, यह कथन कदापि अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। ये लोक सुभाषित हैं। इनमें सदियों से चले आ रहे लोक व्यवहार का निचोड़ है, जैसे किसी व्यक्ति का मान एक बार गिर जाय तो प्रतिष्ठा पुनः नहीं बनती, तब कहते हैं-

वळेण को पाणी मगरी खऽ नीऽ चढतो

अर्थात् मकान की मगरी से पनालों के माध्यम से बहने वाला पानी पुनः पनालों से छत की मगरी पर वापस नहीं चढ़ता।

मिल-जुलकर एक मन से, एक-जुट रहने वालों को अपने निजी लाभों और हानियों को नहीं देखना चाहिए। निजी लाभों और हानियों को देखने वालों के लिए कहा जाता है-

भेळऽ जिमणू तेऽ, कौळऽ नीऽ गिणनू

जब सब मिलकर एक थाली में भोजन करते हैं, तो कौर (ग्रास) नहीं गिनना चाहिए कि कौन कितने कौर खा रहा है।

जब सेवा करने वालों की संख्या अधिक होती है, तब सेवा में खलल पड़ता है। इस संदर्भ की एक सुन्दर उक्ति है-

सेतऽ का गधऽऽ नऽ लात की सुकाळ

बहुत गधे होंगे तो लातें और दुलक्तियाँ ही तो चलेंगी।

अच्छी कमाई या अच्छा धन यदि किसी बुरे काम में लग जाय अथवा बरबाद हो जाय तो कहते हैं -

गावड़ी खऽ धुई नऽ कुतरा खऽ पेवाड़्यो

गाय का दूध दुहकर कुत्ते को पिला दिया। जब व्यक्ति अपने बड़े-बड़े दोषों को नजरअंदाज कर देता है और दूसरों के छोटे से छोटे को भी गिनता रहता है, ऐसी स्थिति की एक लोकोक्ति है-

चाळनी कयऽ सुईऽ थारा पेटऽ मंऽ भुरको

अर्थात् चलनी (छन्नी) सुई से कहती है- 'सुई तेरे पेट में छेद है।

जब कोई व्यक्ति अत्यधिक अत्याचारी और निरंकुश हो जाता है, तब उसका पतन होने लगता है, उसके लिए एक उक्ति है-

भगवान् की लाकड़ी - वाकड़ी मंऽ जीभऽ नीं हाँई

भगवान् की लकड़ी-वाकड़ी में जीभ नहीं होती। भगवान् की मार ऐसी होती है कि जिस पर पड़ती है, उसकी आवाज भी नहीं निकलती और अत्याचारी का नाश हो जाता है।

वृद्ध एवं बुजुर्ग लोगों के साथ जो बुरा बर्ताव करते हैं, उनकी हँसी उड़ते हैं, ऐसे लोगों के लिए कहते हैं -

हँसतऽ कोपळई खिरतऽ पानऽ

जे दिनऽ हमराऽ ते दिनऽ तुमरा।

अर्थात् पके पत्ते को गिरते देखकर कोपल हँसी। इसे सुनकर पके पत्ते ने कहा- भइया हँस रहे हो, आज तो जो दिन हमारा है, वही दशा कल तुम्हारी भी होगी।

मनुष्य कभी भी अपना सही आकलन नहीं करता, व्यक्ति के लिए कहते हैं-

अपणी पूटऽ अपुणऽ खऽ नीं देखाती

अपनी पीठ अपने को नहीं दिखाई देती, अर्थात् अपनी गलतियाँ अपने को नहीं दिखाई देती हैं।

जैसा अवसर हो, जैसा समय आए, उसी के अनुरूप अपने को ढालने वाला व्यक्ति सफल होता है-

जसी चलऽ व्हायऽ, वसी धरो तिक्हायऽ

जिस ओर वायु का रुख हो, उसी दिशा में उड़वनी की तिपाई का मुख करना चाहिए।

जो लोग सुख-बोध या सुख-भ्रांति की दुनिया में जीते हैं। भ्रमवश अपने आपको कुशाग्र बुद्धिवाला और सर्वशक्तिमान समझते हैं, उनके लिए कहा जाता है।

टिटोड़ीऽ का पाँय उच्च कारणऽ सीऽ कई सरगऽ थोबायजऽ

टिटहरी पैर ऊँचे कर सोती है। उसे इस बात का भ्रम रहता है कि उसने अपने पैरों पर आसमान को थाम रखा है, वरना आसमान नीचे गिर जाता।

समय जाते देर नहीं लगती, इसके लिए कहते हैं-

कालऽ मर्या, कालऽ तीनऽ दिनऽ

कल मरे, कल तीसरा दिन हो जायेगा। अर्थहीन और तथ्यहीन कड़ी मेहनत करने पर परिणाम शून्य होता है। मेहनत निष्फल होती है। इसके लिए लोकोक्ति है-

भरातभर दळ्यो नऽ पसऽ मऽ समट्यो।

रातभर पीसा और मुट्ठी में समेट लिया।

प्रकीर्ण लोकोक्तियाँ

प्रकीर्ण लोकोक्तियों के अन्तर्गत पशु, पर्यावरण, वृक्ष आदि की चर्चा मिलती है। पशुओं के स्वभाव सम्बन्धी कहावतें मानव के मिजाज को दर्शाती हैं।

सामान्यतः समान स्वभाव या समान जाति के लोग एक दूसरे का विरोध करते हैं। इसके लिये लोकोक्ति है -

कुतरा खऽ देखीऽ नऽ कुतरो गुरायऽजऽ

कुत्ते को देखकर कुत्ता गुर्गाता है।

जब कमजोर व्यक्ति अपनों के बीच होता है, तब दूसरों के सामने अपनी ताकत का प्रदर्शन करता है, तो उसके लिए कहते हैं-

अपणी गली मंऽ कुत्तों भी शेरऽ

कमजोर कुत्ता भी अपनी गली में शेर जैसा आचरण करता है।

जो व्यक्ति अपने सीमित साधनों से संतुष्ट रहते हैं, उनके लिए लोकोक्ति है -

चिड़ई को धनऽ चोंच मंऽ।

चिड़िया की चोंच में जो कुछ है, वही उसकी धन सम्पत्ति है। संतोषी सदा सुखी को भी चरितार्थ करती है यह कहावत।

अतिस्वार्थी और दुष्ट लोगों की प्रकृति को भैंस के माध्यम से इस लोकोक्ति में कहा है-

भसी का मुड़ाऽ टोटो गयो, ते पाछो नीऽ आवतो

अर्थात् भैंस के मुँह में घास गई तो फिर वह वापस नहीं आती।

जो लोग अज्ञानता से उबरना नहीं चाहते और कोई उद्यम नहीं करना चाहते, उनके लिए लोकोक्ति है-

अंधों कुकड़ो नऽ घट्टी भूवतो

अंधा मुर्गा सदा चक्की के चारों ओर ही घूमता रहता है।

मनुष्य की विकृत प्रकृति और मनोवृत्ति पर वार करती लोकोक्ति है-

ऊँट को सबजऽ तेड़ोऽ

ऊँट के सब अंग तेड़े-मेड़े हैं।

सम्पन्नता के प्रतीक हैं, भैंस आदि पशुधन। इसके लिए कहावत है -

जेका घरऽ काळई, ओका घरऽ सदा दिवाळई

अर्थात् जिसके घर भैंस यानी पशुधन है, उस घर सदा दिवाली रहती है, सदा सम्पन्नता रहती है।

जिनके असली स्वरूप या आचरण का पता नहीं लगता, तब ऐसे दिखावा करने वाले लोगों के लिए लोकोक्ति है-

*हाथी का दाँत खाणऽ का कँईऽ
नऽ बतावणा का कँईऽ।*

हाथी के दाँत दिखाने के अलग होते हैं और खाने के अलग।

दोगले लोगों के लिए कहा जाता है-

दुई मुड़ा की लाँडई आयऽ

दो मुँह की लाँडई (सर्प की प्रजाति) है।

दुनिया का कोई भी काम कभी किसी के बिना नहीं रूकता। इस सम्बन्ध में लोकोक्ति है-

मुर्गा बाँग नी देगो तो काई दिनऽ नीऽ ऊँगणऽ कोऽ

मुर्गा बाँग नहीं देगा, तो क्या दिन नहीं निकलेगा।

लोकोक्तियों का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हुई है कि एक अवसर या एक आशय को स्पष्ट करने वाली एक जैसी अनेक लोकोक्तियाँ प्रयोग में आ रही हैं। जैसे -

पुत्र की जड़ऽ पताळ मंऽ

पुण्य की जड़ पाताल में होती है।

पुत्र का हाथ सदा गीला

पुण्यात्मा सदैव भरापूरा रहता है।

एक पुत्र सात जलमऽ साथ देजऽ

एक पुण्य सात जन्मों तक फल देता है।

निमाड़ में मनुष्य के खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-विचार, व्यवहार-व्यापार, घर-परिवार, मेल-मिलाप, हाल-चाल, हाव-भाव, स्वभाव-प्रकृति आदि क्रिया-कलापों पर अनेकानेक लोकोक्तियाँ हैं, जैसे कुछ लोग अक्खड़ और अकडू मिजाज के होते हैं, उनके लिए कहावत है-

बैल का सींग बटऽ तो भी खड़ाऽ

नऽ उभऽ तो भी खड़ाऽ

बैल के सींग की प्रकृति है, बैल बैठेगा तो भी सींग खड़े रहेंगे और खड़ा रहेगा तो भी खड़े ही रहेंगे। अर्थात् हर परिस्थिति में अकडू लोग अकड़े और अक्खड़ ही बने रहते हैं।

जो लोग अधम प्रकृति के होते हैं, अपने छोटे से लाभ के लिए दूसरे को बड़ा से बड़ा नुकसान पहुँचाने में भी नहीं हिचकते हैं, ऐसे अवसर पर कहते हैं-

जरा सी बद्दी का लेणऽ महस मारणू

छोटी सी बद्दी (चमड़े की डोरी) के लिए भैंस मार डालना। ज्ञातव्य है कि भैंस के चमड़े से मजबूत बद्दी बनती है।

जो लोग अपने ही विषय और हित के लिए सोचते रहते हैं, उनके लिए कहते हैं-

*तवा परऽ की धारी,
नऽ परातऽ मऽ की म्हारी,*

जो तवे पर सिक रही है, वह रोटी दूसरे की और जो थाली में परोसी जा चुकी है, वह मेरी।

कोई भी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है, तब चैन की साँस लेकर कहते हैं-

गंगा घोड़ा न्हायाऽ

घोड़ों तक ने गंगा में स्नान कर लिया अर्थात् कार्य के बोझ से मन को मुक्ति मिल गई।

जब किसी व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार व्यवसाय नहीं

मिलता या कोई योग्य वर या वधू को उसके अनुरूप वधू या वर नहीं मिलते हैं, तो कहते हैं-

सोत्रा का भाग फूट्या, जुरूंग सीय तोलायो

अर्थात् सोने के भाग्य फूटे जो उसे तोलने के लिए जुरूंग का उपयोग किया जाता है। जुरूंग एक वृक्ष का लाल रंग का बीज होता है, ऐसी पुख्ता मान्यता है कि इसका वजन एक रत्ती होता है। इसे कहते हैं सोने को जुरूंग से तोलना। क्या यह सोने का अपमान नहीं है?

किसी भी वस्तु की निरंतरता के लिए उसके स्रोत का जीवित रहना आवश्यक होता है। जो लोग आजीविका के लिए कोई उद्यम नहीं करते और बैठे-बैठ खाते रहते हैं, ऐसे लोगों को सीख देते हुए कहते हैं-

बिना झिरऽ को कुओं सुखई जायजऽ

बिना जाग्रत जल स्रोत का कुआँ भी सूख जाता है।

इसी लोकोक्ति से तरह-तरह के विचार प्रश्नों लेकर खड़े हो रहे हैं, चिन्ता है, हमारी बोलियों के संरक्षण की। बोलियों के बोलने वाले लोगों की संख्या दिनोदिन कम होती जा रही है। इस पर भी लोगों में अपनी भाषाई विरासत के प्रति कोई राग-अनुराग या आसक्तियाँ नजर नहीं आ रही हैं। ऐसा न हो कि बिना जाग्रत स्रोत के हमारी कहावतों, लोकोक्तियों के कुएँ सूख जायें। अवसर-परिस्थितियाँ लोकोक्तियों को जन्म देती चलती हैं।

फड़ापेन की पूजन परम्परा

डॉ. मनीषा सिंह मरकाम

युग-युगीन आदिवासी संस्कृति अपने समूचे अर्थ में भारतीय संस्कृति की सच्ची संवाहिका है। भारत में एक साथ कई छोटी-बड़ी सांस्कृतिक धाराओं के मिलन और मिलन के बाद उनके समरस होने और नवयुग के साथ हमकदमी के साक्ष्य मिलते हैं। भारत जिसमें अलग-अलग मान्यताएँ और उनकी विविधताएँ भरी पड़ी है, शास्त्रों और विद्याओं की कोई कमी नहीं। यह रंग स्थली परम्पराओं, मूल्यों और आधुनिकता के संरक्षण और विस्तार के लिए भी अपनी खास पहचान रखती है। इसका मुख्य कारण यह है कि इसने आदिवासी संस्कृति को भी अपने हृदय में स्थान दिया है, इसलिए यहाँ विभिन्न लोक सांस्कृतिक परम्पराएँ विकसित और पल्लवित होती आ रही हैं। यहाँ लोक गीत, कथाएँ, गाथा, नाट्य आदि की तो समृद्ध परम्परा मिलती ही है, लोकजीवन के सहज अंग पर्वोत्सव, मेले, जात्रा आदि का भी विलक्षण रूप दिखायी देता है। इसी तरह लोकचित्र और उससे सम्बन्धित विशिष्ट परम्पराएँ प्रवहमान रही हैं। फिलहाल कुछ प्रतिनिधि लोक परम्परा के माध्यम से आदिवासी सांस्कृतिक वैभव को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

चूँकि हम हिन्दू सभ्यता और संस्कृति को मानने वाले लोग हैं, इसलिए हमारा धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं और आस्थाओं में विश्वास है। यदि हम पढ़-लिख कर समझदार हुए हैं, तो भले ही हमारा यह विश्वास न हो कि ईश्वर ऐसा है कि उसके गले में सर्पों की माला है, सिर पर से गंगा प्रवाहित हो रही है, पर हमारा सबका यह तो विश्वास है कि हमारे बीच एक ऐसी अदृश्य शक्ति चलती है, जिसे हम जब आँख बंद करके देखते हैं तो हमारी दोनों आँखों के बीच में एक प्रकाश पुँज तैयार होता है। हम जिसे Point of Light भी

कह सकते हैं, और ऐसी शक्तियाँ हमारे भीतर आध्यात्मिक शक्ति जागृत करती हैं और हम अपने दैनिक जीवन के कार्यों को बड़ी निष्ठा के साथ करने का साहस प्राप्त करते हैं।

मानवीय मूल प्रवृत्ति है कि वह किसी भी धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए अत्यधिक पूर्व तैयारियाँ करता है। प्रत्येक समाज में एक ही धार्मिक अनुष्ठान करने की भिन्न-भिन्न रीतियाँ हैं, विभिन्न तरीके हैं और कुछ अलग प्रथाएँ भी। प्रत्येक संस्कृति की अपनी अलग एक विशिष्ट पहचान होती है, परम्पराएँ होती हैं, जो उस क्षेत्र की सोंधी माटी की महक के संग हर क्षेत्र के लोक मानस को पुलकित कर देती हैं। लोक के साथ जुड़ी कलाएँ, कथाएँ, संगीत-नृत्य तथा लोक गाथाएँ, धार्मिक अनुष्ठान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की धरोहर के रूप में स्थानांतरित होती रहती है।

आदिवासी संस्कृति भी इन सब गुणों से रची बसी है। समाज में जहाँ शिवरात्रि का पर्व बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। वहीं गोंडी संस्कृति में बड़ा देव का बहुत महत्त्व है, इसे 'फड़ापेन' के नाम से जाना जाता है। बड़ा देव के पूजन की तैयारी खास होती है और उसका गोंडी जीवन में बहुत महत्त्व है। इसे वह बहुत मेहनत और लगन से करते हैं। ऐसा माना जाता है कि इसके पूजन इत्यादि की तैयारी करते समय किसी भी प्रकार की अशुद्धि घर में अथवा समाजी लोगों में नहीं होनी चाहिए। सभी समाजी व्यक्ति शुद्ध रूप में उपस्थित होना चाहिए। धीरे-धीरे आदिवासी संस्कृति के बड़ा देव भगवान शिव का रूप लेने लगे हैं। पुरानी मान्यता अनुसार उनका रूप निराकार है, उनका कोई और प्रकार नहीं है, वहाँ 'साजा' के वृक्ष में निवास करते हैं, और उनकी पत्नी का नाम है 'पालो'। इस पूजन को करने के लिए पूर्व तैयारी करनी पड़ती है। इसका पूजन जीवन में आने वाली विपदाओं से हमें बचाता है। गोंड लोगों का ऐसा मानना है कि जितनी भी सुख-सम्पन्नता के हम भागीदार हैं, वह बड़ा देव के कारण ही है। बड़ा देव का पूजन बड़े व्यापक स्तर पर होता है, जो लोग व्यापक स्तर पर पूजन नहीं कर पाते वे 'साजा' के वृक्ष पर जल चढ़ाकर ही उनका नित्य स्मरण करते हैं। प्रत्येक गोंडी परिवार के घर के अन्दर दिवालो (देवालय) होता है, जहाँ उनके देवाधामी निवास करते हैं, जहाँ पर 'पालो' को विराजित करते हैं और नित्य प्रति बड़ी शुद्धता के साथ उसका पूजन आदि सम्पन्न करके जल छिटकते (नैवेद्य) हैं।

प्रायः यह देखा गया है कि नवरात्रि के समय जब हम माताजी की पूजा करते हैं या सामूहिक रूप से नवदुर्गा बिठाते हैं तो आरती के समय बहुत सारी महिलाओं को देवीजी आती हैं, या यूँ कहें की उनका शरीर भारी हो जाता है, दैवीय शक्ति का कुछ अंश उनमें होता है। फिर सभी उन महिलाओं को पूजकर उनकी देवी शांत करते हैं। इसी प्रकार जब बड़ा देव का आह्वान कर उन्हें बुलाया जाता है, तब इस बात का पूर्वज्ञान कर लिया जाता है कि घर की सभी महिलाएँ शुद्ध अवस्था में हैं या नहीं या किसी के यहाँ कोई अशुद्धियाँ, मृत्यु आदि तो नहीं हुई है। जो एक ही परिवार के सदस्य हैं, यदि उनमें से एक भी अशुद्ध हुआ तो पूजा नहीं होगी और परिवार के सदस्य के अलावा दूसरे के यहाँ कोई अशुद्धि या अन्य कोई घटना होती है, तो वह पूजन में उपस्थित नहीं होगा, इसकी सावधानी रखना आवश्यक है। पूरे घर को लीप (गोबर की लिपाई) पोत कर पूजन के लिए तैयार किया जाता है। उसके बाद जिस व्यक्ति के शरीर में बड़ा देव आते हैं, उसकी तलाश की जाती है। ऐसा कहते हैं कि हर किसी को बड़ा देव नहीं आते। 100 में से एक व्यक्ति ही होगा, जिसे यह आशीर्वाद प्राप्त होगा, और यह बड़ा ही शुभ संकेत माना जाता है, इसमें शरीर बहुत ज्यादा हिलता नहीं है, बल्कि भाव अत्यन्त शांत और सहज होता है। उसे देखकर किसी के मन में भय की अनुभूति नहीं होती, जिसे बड़ा देव आते हैं, उसे बहुत आदर-सत्कार के साथ बहुत मान-मनव्वल के साथ घर में ढोल नगाड़ों के साथ लाया जाता है। जैसे ही उनका घर में प्रवेश होता है, तो उनके दूध से पाँव धोए जाते हैं, और फिर वह जिस भी अवस्था में है। विभिन्न उपटनों के साथ शुद्ध पानी से उन्हें स्नान करवाया जाता है। यहाँ से प्रारंभ होता है-बड़ा देव का पूजन। समाज के सभी लोग उनमें आमंत्रित होते हैं और सभी उस कार्यक्रम में आना अपना सौभाग्य समझते हैं। किन्तु किसी भी अन्य समाज के व्यक्ति को उनमें आने की अनुमति नहीं है। बड़ा देव यानि साजा के वृक्ष को वह बाहर यानि रच्चा (आँगन) में प्रतिष्ठापित करते हैं, यदि वृक्ष नहीं है तो निमित्त स्वरूप उसके पत्तों सहित डालियों का उपयोग होता है, और अन्दर दीवालें में 'पालो' विराजित रहती हैं। परम्परानुसार बड़ा देव को एक बकरा और 'पालो' को एक बकरी देते हैं। पूजन प्रारंभ होने से पूर्व सभी उपस्थित पुरुष नहाकर झंगा धोती पहनते हैं, और महिलाएँ डिकडी सोंगा जीटा (काँच वाली साड़ी) पहनती हैं, पूजन के समय किसी

भी महिला-पुरुष को सामान्य तरह के वस्त्र पहनने की अनुमति नहीं है ।

पूजन की थाली में हल्दी, कुमकुम, अक्षत, चंदन इसका प्रचलन नहीं है, पूजा की थाली के लिए एक दीपक तेल का और एक दीपक घी का होता है और तिलक करने के लिए एक भिन्न प्रकार की प्रक्रिया है। चावल को तत्काल धोकर, सुखाकर उसमें हल्दी मिलाकर उसे थाली में रखते हैं, और सभी उसी का उपयोग कर देव का पूजन करते हैं। पूजन जब विधि अनुसार सम्पन्न होता है, तब महिलाएँ दूर खड़ी हो जाती हैं, वह इसमें प्रतिभागी नहीं हो सकती, पर वह उसे होते हुए देख सकती हैं। अब जब पूजन सम्पन्न हो चुका होता है तो पुन्जा (प्रसाद) के लिए विशेष सावधानी होना चाहिए। इसे स्वजाति बन्धु ही सेवन कर सकते हैं। तरीका यह है कि बाहर (बड़ा देव) के बकरे का प्रसाद सब पुरुष ही ग्रहण करेंगे और अन्दर 'पालो' का प्रसाद महिलाएँ-बच्चे-पुरुष भी ग्रहण करते हैं, परन्तु सभी स्वजाति बंधु ही होना चाहिए। प्रसादोपरांत जब हाथ धुलते हैं तो उसका पानी भी बाहर नहीं फेंकते हैं। उसे किसी पात्र में इकट्ठा किया जाता है और फिर गड्ढा खोदकर बची हुई प्रसादी या जूठन आदि चीजों को गड्ढे में गाड़ दिया जाता है।

बड़ा देव पूजन में यह उल्लेखनीय है कि इस पूरे कार्यक्रम के दौरान प्रसादी के रूप में महुआ की मदिरा भी चढ़ाना अनिवार्य है। इसके अभाव में पूजन संपूर्ण नहीं माना जाता और प्रसादी के रूप में सभी स्त्री-पुरुष इसे ग्रहण करते हैं। बड़ा देव महाराष्ट्र की सीमा गोंदिया और डोंगरगढ़ के बीच पहाड़ियों में स्थित है। यहाँ का पहुँच मार्ग अत्यन्त रमणीय और प्राकृतिक छटा से भरा-पूरा है। मार्ग में कई गुफाएँ आती हैं, बड़ा देव दरेकसा गाँव के पास कछारगढ़ नामक स्थान पर स्थित है। ऐसा लगता है इतने आधुनिक समय में आज भी प्रकृति की वैसी ही सच्चाई है, जैसा हमारा होना और चीजों को महसूस करना है। अत्यन्त सघन जंगल जो सदियों से खड़े हैं, पर कोई भी उन्हें देखकर कह सकता है कि अभी-अभी युवा हुए हैं। उन जंगलों का रंग बहुत ही खिला-खिला होता है। उस पहाड़ी पर पहुँचकर बहुत सारी गुफाएँ देखी जा सकती हैं, जो हमारे लोक जीवन को वहाँ पहुँचकर नई दिशा में बदलती हैं, नये मोड़ देती हैं। आदिवासियों का एक विशाल समुदाय तो वहाँ

होता ही है, अन्य समाज के लोग भी भारी संख्या होते हैं। यही हमारी लोक संस्कृति की विशेषता है और यही अद्भुत समन्वय हमें कछारगढ़ में देखने को मिलता। जन संचार माध्यमों का इतना अधिक विकास हो जाने के बाद भी बहुत सारी लोक परंपराएँ हैं, जिसने स्वतः ही दम तोड़ लिया है। उन परंपराओं का न गीतों में न चौपालों में न ही रेडियो-टेलीविजन, कहीं भी प्रसारण नहीं हुआ है। इन सभी के बावजूद भी आज भी बड़ादेव की लोक संस्कृति परंपरा में निर्णायक बढ़ोतरी हो रही है। यह लोक संस्कृति परंपरा की मूल्यवान विरासत है, जिसका निषेध नहीं किया जा सकता है। यह परंपरा बेशक अतीत से जुड़ी है, पर आज भी जीवंत है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा है- 'यह विषय बुद्धि का कौशल नहीं, यह संस्कृति के निर्माणात्मक एवं विद्यमान तत्वों की छानबीन है, जिसका जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध है।'

बड़ादेव के मेले में नागपुर, मुम्बई एवं महाराष्ट्र के अन्य स्थानों से लोग आते हैं। मध्यप्रदेश के बालाघाट, डिंडोरी, सिवनी, छिंदवाड़ा, होशंगाबाद एवं मण्डला के लोग भी सम्मिलित होते हैं। वहाँ एकत्रित हुए धार्मिक आस्था से परिपूर्ण लोग 'जय जंगो जय लिंगो' के नारे के साथ जब सारा वातावरण आप्लावित करते हैं, और सभी गुफा की ओर धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं, तो हृदय भावों से परिपूर्ण हो जाता है। बड़ा देव गुफा में जाने से पूर्व हमें दर्शन होते हैं कंकाली माता (काली माता) जो की आस्था का बहुत बड़ा केन्द्र है, सभी स्त्री-पुरुष 'जय जंगो जय लिंगो' के नारे से कंकाल माता की मढ़ियाँ के दर्शनोपरांत अब एक ही लाइन में प्रस्थान करते हैं। बड़ादेव की गुफा की तरफ जो गुफा ऊँचाई में कम है, वहाँ झुककर ही जाना पड़ता है और एक लाइन से ही दर्शन हो पाते हैं। वहाँ पहुँचकर सभी बड़े आस्था के साथ दर्शन करते हैं, उस गुफा में ही बड़ा देव का वास है, वहाँ दीपक जलता रहता है और त्रिशूल भी रहता है। इसके अलावा भी अन्य छोटी गुफाएँ हैं।

लोक संस्कृति, लोकवार्ता, लोक साहित्य और लोक गाथा गीत एक क्रम में बंधे हुए हैं। इस क्रम को तोड़ा नहीं जा सकता। यह मौखिक परम्परा का अटूट क्रम है, मौखिक साहित्य का आधार है, जिसमें जाति की मूल संस्कृति रची होती है, जो सदियों बीत जाने पर भी बीज रूप में स्थित रहती है। मूल प्रवृत्तियाँ कमोबेश वही रहती हैं, पर सामाजिक संरचना में सांस्कृतिक स्तरों

में परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक सांस्कृतिक धरातल पर उनकी व्याख्याओं में अन्तर आता जाता है। मूल संस्कृति के स्तर को और लोक संस्कृति के निरंतर संक्रमित और विकसित होते हुए चक्रों को दृष्टि पथ में रखने से लोक संस्कृति से लोक साहित्य, लोक अनुष्ठान, लोक गीत, लोक परम्परा तक की यात्रा सही और प्रमाणिक ढंग से की जा सकती है। वास्तव में 'लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है।'

लोक संस्कृति और सामाजिक संरचना का एक-दूसरे से गहरा संबंध है। वे एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं, जो समाज जितना पुराना होगा, उसकी सांस्कृतिक जड़ें भी उतनी ही गहरी होगी, उनके पारस्परिक सम्बन्ध भी उतने ही घनिष्ठ होंगे। भारतीय समाज के बारे में यह बात पूरी तरह से लागू होती है। वर्गों, वर्णों, कबीलों, समूहों, जातियों और जटिल पारिवारिक रिश्तों में बंधा हुआ भारतीय समाज अनेक प्रकार के मिथकों, दंत-कथाओं, धार्मिक कथाओं, लोक कथाओं और पुरा कथाओं से नियंत्रित और परिचालित रहा है। लोक संस्कृति के प्रतीकों और बिम्बों से वह लगातार प्रभावित होता रहा है। आज भी भारतीय मानसिकता की बनावट में कौम के और उससे जुड़े कबीलों, जातियों और वर्गों के साँझे और समूचे अनुभवों की सक्रियता और उनके चिन्ह देखे जा सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि शिष्ट संस्कृति के मुकाबले में लोक संस्कृति ने भारतीय समाज को अलग तरह से पहचान दी है।

लोक साहित्य में लोक चेतना, जनजीवन और लोक संस्कृति की आदिम चेतना के स्रोतों की पहचान की जा सकती है, किसी प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत की जड़ों-प्रतीकों और बिम्बों तक पहुँचने के लिए लोक साहित्य की मदद जरूरी है। साहित्य और संस्कृति को समझने के लिए जैसे पुरातत्व की खुदाईयों का महत्व है, उसी तरह बल्कि उससे कहीं अधिक लोक जीवन के इतिहास और संस्कृति की भीतरी प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों और शक्तियों को

हृदयंगम करने के लिए लोक संस्कृति, लोक परम्पराओं का अध्ययन जरूरी है।

लोक परम्पराओं में मनुष्य के आदिम संस्कारों के अवशेष निहित रहते हैं, और उनकी अनुगूँजे सुनी जा सकती हैं। लोक परम्परा मौखिक परम्परा की देन है। वर्ष दर वर्ष, सदी-दर-सदी, यह लोगों की जबानी फलता फूलता रहता है और संस्कृति और साहित्य को प्रभावित करता रहता है। लोक परम्पराएँ लोक मानस की पहचान कराती हैं और लोक मनोविज्ञान को समझने में सहायक होती हैं। लोक परम्पराओं में जो अवशेष या सांस्कृतिक तत्त्व एक लम्बे समय तक स्मृति के सहारे बने रहते हैं, उनका कारण है लोक मानस में दूर तक उनकी जड़ों का होना। लोक परम्परा हो या धार्मिक अनुष्ठान हो या लोक गीत, वे जंगल के उन पेड़ों के समान हैं, जिनकी जड़ें अतीत में अवस्थित हैं। वहीं से जीवन पाकर उसकी शाखाएँ, कोपलें एवं फल आदि प्रस्फुटित होते हैं और वर्तमान को नई शक्ति और चेतना प्रदान करते हैं, जिससे वह सजीव हो उठता है।

लोकवार्ता, लोक साहित्य, लोक परम्परा, लोक गाथा, लोक गीत के सांस्कृतिक और सामाजिक महत्त्व को भला कौन नहीं मानेगा, पर इस सम्बन्ध में विवाद है कि आधुनिक और समकालीन परिस्थितियों में इस ढंग का साहित्य कहाँ तक उपयोगी और प्रासंगिक है, ऐसे विद्वानों और कृतिकारों की कमी नहीं है, जो लोकवार्ता, लोक साहित्य पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, इसके अध्ययन को पिछड़ेपन की निशानी मानते हैं और यह कहने में स्वयं की आधुनिकता का परिचय देते हैं कि इस ढंग का साहित्य हमारे लिए वर्तमान परिप्रेक्ष्य में किसी काम का नहीं है, इससे हम फिर से गर्त की ओर ही जा रहे हैं, इसका सम्बन्ध हमारी आज की परिस्थितियों और समस्याओं से नहीं है। लोक परम्परा के प्रति हमारे अपनों का ही रवैया हमें बड़ा खलता है, अवसादपूर्ण लगता है। जो ये कहते हैं उन्हें यह नहीं पता कि अतीत के कला रूपों और लोक रूपों को समझे बिना आज को भी सही तौर पर नहीं समझा जा सकता।

लय-ताल के रूपक

विनय उपाध्याय

मांदल्या मांदली बजाड़ रे घड़िक नाचि भाला रे
तारा हाथ नो चालो रे, मारा पाय नो चालो रे
तल्या तलि रे बजाड़ रे घड़िक नाचि भाला रे
फेफरया फेफरी बजाड़ रे घड़िक नाचि भाला रे
तारा मुहंडे चालो रे, मारा पायनो चालो रे
मांदल्या मांदली बजाड़ रे..

भील नर्तक अपने साथी मांदल वादक से गुहार कर रहा है- तू मांदल बजा, हम थोड़ी देर नाच लेंगे। तेरे हाथ की थाप से मेरे पैरों की ताल मिल जाये। थाली और शहनाई वाले से भी उसकी गुहार है कि तुम अपने साज की सुरीली, लय भरी तान छोड़ो, हम थोड़ी देर थिरक लेंगे। जाहिर है कि इस प्रेमिल मनुहार में जीवन के आंतरिक उछाह और आनंद की आकांक्षा झर रही है।

साज और शरीर की यह आपसदारी, दरअसल जीवन और संगीत के अनटूटे आदिम रिश्ते का साक्ष्य भी है। यह सिर्फ जनजातीय जीवन और परिवेश की परिधियों तक सिमटी रहने वाली वास्तविकता नहीं है। यह एक सार्वभौम सत्य है जो किसी भी मनुष्य की चेतना में उठने वाले राग भाव की प्रतीति कराता है। अगर यह स्पंदन दुनिया के हर मनुष्य की देह में समान भाव से घटित हो रहा है तो निश्चय

ही यह प्रकृति के प्रति उसके अनन्य सहकार या सह-अस्तित्व का ही परिचायक है। तब संगीत को बुनियादी तौर पर भूगोल या समुदाय की सीमाओं में नहीं बांटा जा सकता। आदिवासी या जनजातीय संगीत की परिभाषा भी इसी व्यापक और उदार दृष्टिकोण की दरकार रखती है।

कल्पना करें हमारे उस आदि पुरुष की जिसने पहली बार किसी ध्वनि को, किसी लहर को अपने भीतर महसूस किया होगा। तब किसी साज और कंठ के बिना भी संगीत के किसी सरगम ने उसे रोमांचित किया होगा। मेघों की गमक, दामिनी की दमक, हवा की सरसराहट, झरनों

का कलकल और पावस की पुलकन ने जब उसके अस्तित्व को पहली बार छुआ होगा तो इस आदिम अहसास की प्रतिध्वनि का जादुई रोमांच जज्ब करने के लिए वनवासियों की ललक ने नई अंगड़ाई ली होगी। और ऐसा करते हुए उसने अपने आसपास की चीजों में ही संगीत के नाद की खोज की होगी। आदिवासियों के वाद्यों में हमारा यही परिवेश

अस्तित्वमान है। अगर क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर इन पांच तत्वों से मिलकर हमारी देह का निर्माण हुआ है, तो यही पंचभूत नाद बनकर हमारी चेतना में बार-बार घुलते-मिलते हैं। हमारे राग-विराग, संयोग-वियोग, आँसू और मुस्कराहटों, चुप्पियों और कोलाहल जीवन की प्रत्येक हलचल में प्रकृति का कण-कण गूँजता है। वन-प्रांतों में रहने वाली जनजातियों ने इसी महाभाव को अपनी कल्पना और सूझ-बूझ से सहज उपलब्ध संसाधनों में अर्जित किया। यही वजह है कि व्याकरण और शास्त्र सम्मत निर्देशों का दंभ दरकिनार करते हुए आज भी परंपरा के साजों की गमक बाकी है। वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसे अपनी आस्थाओं में बसाए हुए हैं। घर्षण, मिश्रण और प्रदूषण के इस युग में भी उनके सौंधे सुरों की असलियत पर ग्रहण नहीं लगा है। जनजातीय जीवन

में सुषिर, ताल और अवनद्य वाद्यों की एक सुदीर्घ श्रृंखला है, जिसमें आदिवासी समाज, संस्कृति और प्रकृति की विविधा को देखा-महसूस किया जा सकता है। ये वाद्य लकड़ी, चमड़े और धातुओं से निर्मित होते हैं, जिनमें आदिवासियों का अपना संज्ञान निहित होता है। अवसर और समय के साथ जुड़े क्रियाकलापों के दौरान ये साज इस्तेमाल में लाए जाते हैं।

देखने की बात यह है कि साज और शरीर का यह तालमेल आदिवासी और लोक नृत्यों ही नहीं शास्त्रीय नृत्यों में भी समान और परिहार्य है। एक अजीब उत्प्रेरक घटना होती है जब वाद्यों की

उठती गमक के साथ नर्तक की देह यकायक ऊर्जा और आनंद से भर उठती है तथा भीतर का रोमांच विभिन्न आवर्तनों के साथ देह-लीला के सुन्दर रूपक रचने लगता है। कला आलोचक अशोक वाजपेयी नृत्य को देह की अनश्वरता का उत्सव कहते हैं और कथक नृत्य गुरु पं. बिरजू महाराज ने अपने अनुभव के सार

को एक सूत्र दिया है- 'नृत्य तो लय की कविता है'।

विचार की आवृत्ति को लोक तथा आदिवासी नृत्यों के आसपास सीमित रखें तो वाद्य और नर्तकों के रोमिल रिश्ते के साक्ष्य भारत के कई सूबों-अंचलों में मिलते हैं। बड़ी ही दिलचस्प मिसालें हैं। राजस्थान के मरूस्थलों के घुमक्कड़ कालबेलिया जैसे ही बीन की तान और ढोलक की थाप छेड़ते हैं, नर्तकी की देह अचानक नागिन सी बल खाने लगती है। यही नजारा पेश करती है वहाँ के भवई नृत्य की मुद्राएँ। जैसे-जैसे ढोलक की थापें दुगुन-चौगुन गति के साथ चरम पर पहुँचती है, भवई नर्तकी का आवेग जादुई सम्मोहन जगाने लगता है। गुजरात का 'सिद्धिधमाल' नृत्य बड़े ड्रम के आकार वाले ताल वाद्यों के बिना संभव नहीं। मंथर चाल से शुरू हुआ नृत्य सिद्धि युवकों के हैरतअंगेज कारनामों के साथ संपन्न होता है। यहाँ भी साजों की लयकारी और उसके साथ



पूरे शरीर की जुगलबंदी मन बाँध लेती है। गुजरात का ही अपार लोकप्रिय 'गरबा' ढोल की ताल के बगैर तो जैसे अधूरा ही है। मालवा का 'मटकी' तो उठती-गिरती तालों के साथ थिरकती नृत्यरत देह के रोम हर्षक दृश्य उपस्थित कर देता है।

लोक संस्कृति विशेषज्ञ डॉ. कपिल तिवारी जनजातीय नृत्यों के प्रभाव को प्रकृति की नातेदारी से जोड़ते हैं- 'बहुत हद तक प्रकृति नियामक है जनजातीय नृत्यों के लालित्य की। सारे आदिवासी नृत्य प्रकृति को ही समारोहित करते हैं। वे मनुष्य के आदिम उल्लास की अभिव्यक्ति और प्रकृति के प्रति अनन्य कृतज्ञता और धन्यवाद है। केवल नृत्य ही

वह माध्यम है, जिसमें शरीर, मन और हृदय की समग्रता है और उसी से यह कृतज्ञता निवेदित हो सकती हैं।' यह सच है कि आदिवासी नृत्यों के पूरे रचाव में प्रकृति प्रतिध्वनित होती है। ढोलक, मादल, टिमकी, तुड़बुड़ी, बाँसुरी आदि वे साज हैं जिनमें जल, थल, वन, पर्वत बल्लिक संपूर्ण ब्रह्माण्ड को नापती स्वर



लहरियाँ हैं। अरण्य में खिले फूल उनका श्रृंगार है। धरती की गोद उनका मंच है और खुला आकाश छत। पेड़-पौधे, झील, नदी, सूरज, चाँद, तारे, बादल किसी न किसी रूप में उनके आराध्य हैं। डालियों पर आ रही कलियाँ, कलियों से खिल रहे पुष्पों की महक, वृक्षों पर लग रहे फल, नयी आ रही कोपलें, पंछियों की चहक, पशुओं की संगत, पावस की फुहार और बसंत की बहार, प्रकृति और परिवेश की ऐसी कोई क्रिया नहीं, जो नृत्य-संगीत का हिस्सा न बनती हो। यह सब व्यापार स्वर-तल-ताल भरी साजों की संगत के बिना अधूरा ही है।

मध्यप्रदेश की गोंड जनजाति के 'करमा' नृत्य को ही लें। यह कर्म की प्रेरणा देने वाला सुन्दर नृत्य है, जिसमें कर्म को देवता मानकर पूजा जाता है। कोई भी ऋतु हो, यह नृत्य अनुष्ठान की पवित्रता के साथ स्त्री-पुरुष मिलकर करते हैं। गोंड जन करमी,

कलमी और हलदू पेड़ की डाल जंगल से लाते हैं और कपड़ा लपेटकर गाँव के एक निश्चित स्थान पर गाड़ते हैं। कर्म वृक्ष की पूजा करने के उपरंत सामुदायिक भोज होता है और फिर सवाल-जवाब के गीत गाकर ढोलक की थाप तथा बाँसुरी की तान पर थिरकते युवक-युवती उल्लास से भर उठते हैं।

गोंड जनजाति का ही एक और अनूठा नृत्य है- 'सैला' जिसे शरद ऋतु की चाँदनी रातों में किया जाता है। इस नृत्य का आकर्षण है- हाथ में सवा हाथ के डंडों का प्रयोग। मान्यता है कि सरगुजा की रानी से अप्रसन्न होकर आदिदेव बधेसुर अमरकंटक

चले गये, तब गोंड वनवासियों ने सैला यानी बांस के डंडे हाथ में लेकर बधेसुर की नृत्यमय आराधना की थी। डिंडोरी जिले के चाड़ा के घने जंगलों में निवास करने वाली आदिम जनजाति बैगा के पास भी नृत्य की अनमोल संपदा है। प्रमुख रूप से 'परघौनी' नृत्य आनंद और आंतरिक हर्ष की अभिव्यक्ति का प्रतीक है। विवाह आदि के अवसर पर

बारात की अगवानी परघौनी के साथ की जाती है। लड़के वालों की ओर से आंगन में हाथी बनवाकर नचाया जाता है। मकसद एक अवसर विशेष को आनंद में बदलने से है। बैगाओं के लिए फाग का पर्व भी नृत्य के बिना संभव नहीं। गाँव के खुले प्रांगण में फागुन का उत्सव मनाने बैगा जन इकट्ठा होते हैं और बड़े ढोल की थाप पर विभिन्न देह मुद्राएँ उकेरते हुए गोल घेरा बनाकर नाचते हैं। ऋतुओं की रंगत के साथ सौहार्द का आत्मीय तालमेल दिखाई देता है।

होली के साथ सहज ही याद आता है झाबुआ-अलिराजपुर इलाकों के भीलों का 'भगोरिया'। बासंती सरसराहट के साथ उग्र के आंगन में खिलता बसंत भगोरिया की पहचान है। होली के आते ही भीलों के हाट सजने लगते हैं और यहीं पर युवक-युवतियों का

मिलन होता है। वे नृत्य करते हुए एक-दूसरे को रिझाते हैं और अपने जीवन साथी की तलाश कर दाम्पत्य की गुलाबी गाँठ बाँध देते हैं। नृत्य में यह प्रसंग अत्यंत हृदयग्राही हो उठता है। घुटने तक ऊँची धोती, कुर्ता, सिर पर पगड़ी और कांधे पर तीर-कमान लिए भील युवक, बड़े घेर का घाघरा और ओढ़नी पहने श्रृंगार से लद-कद युवतियों के साथ बड़े ढोल की थाप पर थिरकते हैं। विभिन्न आकृतियों के साथ नृत्य धीमी चाल से तेज गति पकड़ता चरम पर पहुँचता है। भगोरिया की लोकप्रियता का घेरा पिछले एक दशक में अपने जनपद की हर्दें फलंगता सात समंदर पार के लोगों तक भी पहुँचता है।

इधर गोंड जनजाति के ढुलिया समुदाय के 'गुदुमबाजा' नृत्य ने भी सहसा लोगों का ध्यान खींचा है। परंपरागत जनजातीय नृत्यों में गुदुमबाजा धार्मिक और सामाजिक पर्व-प्रसंगों से जुड़ा है। एक दर्जन से भी ज्यादा ढुलियाजन गले में नगाड़े के आकार का तालवाद्य गुदुम टांगकर चमड़े की एक धड़ी से आघात करते हैं। शहनाई की लोक धुन पर विभिन्न ताल आवर्तन वातावरण की नीरवता को दिव्य संगीत में तब्दील कर देते हैं। कोरकुओं की चर्चा के बगैर मध्यप्रदेश के जनजातीय सांस्कृतिक वैभव को जानना अधूरा उपक्रम होगा। छिंदवाड़ा, बैतूल, हरदा, खंडवा, होशंगाबाद के समीपवर्ती इलाकों में कोरकुओं का वास है। कोरकुओं के पास अपने नृत्य संगीत की सम्पन्न विरासत है, जिसमें उनकी जातीय स्मृतियों, विश्वास और आस्था के आयाम प्रकट होते हैं। पुरुष और स्त्रियाँ प्रायः बराबरी से नृत्य में शरीक होते हैं। स्त्रियों के हाथ में चिटकोला तथा दूसरे हाथ में रूमाल और पुरुषों के हाथ में घुँघरमाल तथा पंछा होता है। गादली, थापटी ढांढल, होरोरिया, चिलौरी, आदि कई नृत्यों का प्रचलन है।



'थापटी' नृत्य में महिला-पुरुष गीत गाकर नृत्य करते हैं। विवाह के साथ ही अन्य घरेलू खुशियों के अवसर पर भी सहज आनंद के लिए यह नृत्य किया जाता है। ढोलक और बाँसुरी नर्तकों के भीतरी उत्साह को प्रेरित करते हैं। कोरकुओं की किशोरियों में 'चिलौरी' नृत्य का प्रचलन है, जिसमें वे वृत्ताकार नाचती हुई अपनी कामनाओं को अभिव्यक्त करती हैं। 'ढांढल' पुरुष प्रधान नृत्य है, जिसे ग्रीष्म ऋतु की रातों में किया जाता है। पावस की प्रतीक्षा को नृत्य के आह्लादित अवकाश में बदलते युवक ढांढल यानी आड़ी लकड़ी को कलात्मक आयाम देते हुए लहराकर नृत्यमय आकृतियाँ उकेरते हैं। कोरकुओं का ही एक अन्य नृत्य 'ठाठिया'

में दीपावली की खुशियाँ साकार होती हैं। पुरुष, पशुओं के बालों से बनी रस्सी में कौड़ियों की लम्बी-लम्बी लड़ियाँ गूँथकर पहनते हैं। सुषिर वाद्य के बतौर शामिल होते हैं बाँसुरी और भैंस का सींग। दरअसल दीपावली के बाद पहले लगने वाले हाट को ठाठिया कहा जाता है। यह हाट भीलों के

भगोरिया का स्मरण कराता है। इस हाट से ही पलायन कर कोरकू युवक-युवती भी विवाह रचाते हैं।

साजों के आसपास सिमटा शरीर का यह सम्मोहन इस धारणा को पुष्ट करता है कि हमारे ही चित्त के राग-विराग ध्वनियों में बसे हैं। ये आवाजें पूरी समष्टि में अलग-अलग रूपायित हैं। इन आवाजों ने अपने घर बसा लिए हैं। हमारी देह, हमारा मन जब-जब अपनी ही आवाजों से गलबाहें करने को ललकता है, साज के इन घरों से सरगम फूटता है। कबीर ने सच ही कहा है- 'कबीरा यह तन ठाठ तंबूरे का'। जीवन तो आनंद का अनहद है। ध्यान लग जाए तो आत्मा में इन स्वर लहरियों को सुना जा सकता है।

जनजातीय जीवन और कला का जीवन्त दस्तावेज

वसन्त निरगुणे

6 जून 2013 का दिन मध्यप्रदेश के लिये एक यादगार दिन बन गया। इस मायने में कि भारत के माननीय राष्ट्रपति महोदय श्री प्रणब मुखर्जी भोपाल आये, यहाँ उन्होंने दो महत्वपूर्ण काम किये- एक अटल बिहारी वाजपेयी हिन्दी विश्वविद्यालय का शिलान्यास और दूसरा मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय का लोकार्पण। श्री प्रणब मुखर्जी का राष्ट्रपति के रूप में मध्यप्रदेश में यह पहला दौरा रहा। वे मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय देखकर अभिभूत हुए। यह परियोजना आदिमजाति कल्याण विभाग की थी, जिसकी रचना संस्कृति संचालनालय, मध्यप्रदेश शासन, संस्कृति विभाग के अन्तर्गत आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, भोपाल ने की है। इसका सृजन प्रदेश के जनजातीय समुदायों के एक हजार कलाकारों-शिल्पकारों ने लगभग इतने ही दिनों में दिन-रात अपने हाथों से काम करके किया है। संग्रहालय की पाँच बड़ी गैलरियों में कला संयोजन का काम वरिष्ठ चित्रकार श्री हरचंदन सिंह भट्टी ने किया है। भवन निर्माण राजधानी परियोजना प्रशासन ने और आकल्पन पर्यावरण नियोजन एवं समन्वय संगठन (एफ्को) ने किया है। संग्रहालय भवन सात वर्षों में बनकर तैयार हुआ है। मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय, राज्य संग्रहालय (पुरातत्त्व) और इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय के बीच में श्यामला हिल्स पर स्थित है। जहाँ डिपो चौराहे और दूरदर्शन केन्द्र की ओर से सहज रूप से पहुँचा जा सकता है। संग्रहालय कोने पर होने के कारण ऊँची इमारतों के माध्यम से दूर से पहचाना जा सकता है। प्रवेश करते ही लकड़ी पर किया गया कार्विंग द्वार सबसे पहले आपका ध्यान आकर्षित किये बगैर नहीं रहेगा। क्योंकि वह आपकी आँखों का रास्ता जरूर रोक देगा। द्वार पर ये आकृतियाँ आदिवासियों की उत्पत्ति कथाओं के मूल पात्रों से गढ़ी गई हैं। आदिवासी मिथकीय अवधारणाओं में धरती के सृजन में कौआ, केकड़ा, कछुआ, सर्प, केचुआ, मकड़ी आदि बहुत महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाते हैं। भगवान के आदेश पर ये ही प्राणी महादेव को धरती बनाने योग्य मिट्टी उपलब्ध कराते हैं। इसलिये इन्हें प्रवेश द्वार पर अंकित किया गया है। अन्य संग्रहालयों से बिल्कुल अलग अवधारणा को जनजातीय संग्रहालय में साकार करने की जिद के पीछे 'जनजातीय जीवन, देशज ज्ञान परम्परा और

सौन्दर्यबोध' की जीवन्त प्रक्रिया ही प्रेरणास्रोत रही है। इससे प्रदेश में निवासरत जनजातीय समूहों की जीवनशैली, कला, संस्कृति, परम्परा और जीवनोपयोगी शिल्पों, चित्रों, रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों यत्किंचित् जनजातीय वाचिकता के अभिप्रायों, प्रतीकों और मिथकों को संग्रहालय में रचने की यथासंभव कोशिश की है। संग्रहालय में आने वाला जिज्ञासु, दर्शक और शोधार्थी एक साथ पूरे प्रदेश की समृद्ध आदिवासी संस्कृति और कला परम्परा से परिचित हो सकेगा। आदिवासी जीवन एक ईकाई की तरह होता है। उसमें कला अथवा ज्ञान को अलग से व्याख्यायित नहीं किया जाता। इसलिये शब्द रूपों की अमूर्तता से लगाकर शिल्पों की भौतिकता तक

शोध, संकलन, आकल्पन और प्रदर्शन में इसे प्रकट करना भी उसी समग्रता और समावेशी रूप में किया गया है। संग्रहालय की स्थापना इसी दृष्टि से की गई है। यह दृष्टि एक चुनौती को पैदा करने वाली भी थी। क्योंकि इस तरह का कार्य विश्व में पहले

कहीं नहीं किया गया है। (ऐसा अनेक दर्शकों ने इसे बनते देखकर व्यक्त किया है।)

मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय मध्यप्रदेश की 43 जनजातियों की कला परम्परा पर केन्द्रित है। जिनमें गोंड, बैगा, भील, कोरकू, सहरिया, भारिया और कोल सात जनजाति की जीवन, कला परम्परा को प्रमुखता दी गई है। संग्रहालय में प्रदर्शित प्रायः सभी प्रादर्श आदिवासियों के परिवेश से अर्जित किये गये हैं, जो कला के उत्कृष्ट नमूने होने के साथ मूलतः जीवन के दैनिक कार्यकलापों से जुड़ी हुई उपयोग की वस्तुएँ हैं। इन वस्तुओं में भी आदिवासियों के मूल विचार, धारणा, अवधारणा और कोई न कोई स्मृति या स्वप्न अंकित हुए हैं। यदि चित्र या वाद्य यंत्र रखे हैं, तो वे भी किसी अनुष्ठान का अंग होते हैं और

यदि शिल्प या मूर्ति रखी हैं तो वह भी किसी देव, किसी अदृश्य शक्ति का आव्हान है। समूचा चराचर जगत इस अदृश्य शक्ति से आबद्ध है, इसलिए तो इन आदिवासियों में ऐसा कुछ भी नहीं, जो एक साथ ही लौकिक और अलौकिक न हो। साँप-बिच्छू भी पूजनीय हैं, गोबर मिट्टी भी, घर की चौखट खेत की मेड़ भी, धान कूटने वाली ढेकी, पीसने वाली चक्की, सिलबट्टा ये सभी किसी देवता से कम नहीं हैं। संग्रहालय का उद्देश्य इसलिये आदिवासी समाजों को समग्रता से देखने-समझने तथा जीवन दृष्टि को समझने की कोशिश करना है। उनके देशज ज्ञान-विज्ञान और सौन्दर्य पद्धतियों को करीब से देखने-समझने का अवसर

उपलब्ध कराने का माध्यम है। उनके बदलते संदर्भों और समय को भी रेखांकित करता है, जो उनके अतीत और वर्तमान को जोड़ते हैं। इन्हीं के बीच से कहीं उनके भविष्य की भी झलक देखी जा सकती है। सत्यार्थ तो यह है कि आदिवासी हमेशा तीनों कालों में जीता है। स्मृतियाँ उसका



पीछा करती हैं और स्वप्न उसको आगे की सोचने के लिये मजबूर करते हैं। वर्तमान तो सदैव उसके पैरों के नीचे रहता है। प्रागैतिहासिक काल से लगाकर आज के वर्तमान समय तक आदिवासी समाजों के यहाँ रहने के ऐसे ही साक्ष्य उनके कलारूपों, भित्तिचित्रों आदि में मिलते हैं।

संग्रहालय परिसर में मुख्य रूप से छह बड़ी गैलरियों में प्रदेश के जनजातीय जीवन की भौतिक और आध्यात्मिक संस्कृति, कला और वाचिक परम्परा की सामग्रियों को उनके वातावरण के अनुरूप सजाने-सँवारने का कार्य पिछले दो सालों में निरन्तर जारी था। संग्रहालय की मुख्य विशेषता यह है कि प्रदेश के गोंड, बैगा, भील, कोल, कोरकू, सहरिया, भारिया आदि जनजाति के पारम्परिक शिल्पकारों ने स्वयं अपने हाथों से वीथिकाओं को

सजाने और उनमें रखे जाने वाले प्रादर्शों को उनकी जातीय स्मृतियों के साथ गढ़े हैं। इससे संग्रहालय और उसके परिसर में एक जीवन्तता का वातावरण निर्मित हो गया है। संग्रहालय स्थापना के लिए राष्ट्रीय स्तर की विशेषज्ञों की कोर कमेटी गठित की गई थी, जिसके सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय संग्रहालय विशेषज्ञ डॉ. सरोज घोष ने भी इसे स्वीकारा। जब कोर कमेटी की पहली बैठक संग्रहालय में ही आयोजित थी, तब भील आदिवासी सदस्य प्रसिद्ध चित्रकार श्रीमती भूरी बाई ने पुरजोर आवाज में यह बात कही कि 'जब यह आदिवासी संग्रहालय बनाया जा रहा है, तो क्यों न इसे बनाने का दायित्व प्रदेश के आदिवासियों को दिया जाये।' इस बात का समर्थन कमेटी के सभी

सदस्यों ने न केवल एक स्वर से किया, बल्कि भूरी बाई के इस त्वरित कथन की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की, जिसमें पुरातत्वविद् डॉ. के.के. चक्रवर्ती भी शामिल रहे। यह स्वीकृति एक तरह से कार्य करने वाले लोगों के लिये स्वप्न के साकार होने जैसी बात थी। इस तरह प्रदेश के

आदिवासियों द्वारा संग्रहालय को रचने-संवारने का मार्ग प्रशस्त हो गया था। फिर भी प्रदेश की सभी जनजातियों की कला संस्कृतियों को इस सीमित संग्रहालय में दिखाना कोई आसान काम नहीं कहा जा सकता था। जनजातीय जीवन, आवास, देवलोक और कलाबोध को लेकर वीथिकाओं का विभाजन अत्यधिक विचार मंथन कर किया गया, जिसमें आदिवासी जीवन को समग्रता और कल्पनाशीलता से ही नहीं, संवेदनशीलता से दिखाया जाने का प्रयत्न हो।

प्रदेश में आदिवासियों की सांस्कृतिक धरोहर का आदिम विविध विश्व और कला-साहित्य का संस्पर्शी जगत मौजूद है। प्रदेश का सौभाग्य है कि वह पहले सात और अब पाँच राज्यों की संस्कृति सीमाओं से आवृत्त है। एक तरफ से उत्तरप्रदेश, दूसरी

तरफ से छत्तीसगढ़, तीसरी तरफ से महाराष्ट्र, चौथी तरफ से गुजरात और पाँचवी तरफ से राजस्थान मध्यप्रदेश की सरहदों को छूते हैं। जिन प्रदेशों से जनजातीय संस्कृति की सीमाएँ मिलती हैं, वहाँ जीवन की समानताएँ असमानताएँ और विविधता को ही आभासित करती हैं। इसकी एक झलक मध्यप्रदेश के साथ संग्रहालय की एक यानी पहले नम्बर की गैलरी में मिलेगी। इससे मध्यप्रदेश की जनजातीय सांस्कृतिक समृद्धि का आकलन प्रथम दृष्ट्या किया जा सकेगा और अन्य राज्यों के अन्तर्सम्बन्धों के रेशों को बारीकी से समझा जा सकेगा। जहाँ एक तरफ लोक संस्कृतियों का समावेशी संसार है, तो दूसरी तरफ अनेक जनजातियों

की आदिम संस्कृति का विस्तृत फलक फैला है।

संग्रहालय की गैलरियों के मुख्य प्रवेश द्वार पर नज़र पड़ते ही राष्ट्रपति श्री प्रणब मुखर्जी की लोकार्पण पट्टिका और सामने सुन्दर अगरिया हिरनौटी (विवाह दीप) के दर्शन होंगे। जिस पर संग्रहालय के निर्माण लागत, अवधि आदि

की जानकारी अंकित है। हिरनौटी के आधार पर संग्रहालय का 'लोगो' लगाया गया है, जो गोंड गुदना से अर्जित किया गया है, जिसे 'बिरछा' कहते हैं। बिरछा का अर्थ 'वृक्ष' होता है। गोंड स्त्रियाँ जिसे गुदना के रूप में अपने गोड़ यानी पैर में धारण करती हैं। जनजातियों का समग्र जीवन वृक्ष यानी जंगल पर ही निर्भर होता है, इसलिए 'बिरछा' इसी बात का प्रतीक है। हिरनौटी अगरिया जाति के लोग 'कुँवारी लोहे' से गोंडों और अन्य लोगों को बनाकर देते हैं। अगरिया विश्व की प्रथम जनजाति है, जिसे पत्थर से लोहा और उसे बनाने की तकनीक खोजने का श्रेय है। अगरिया गोंडों की ही एक उपशाखा है।

प्रवेश की ऊँची विस्तृत दीवार पर विश्व की प्रथम संस्कृति नदी और प्रदेश की जीवन रेखा नर्मदा की उत्पत्ति कथा को



लकड़ी के विभिन्न आकारों के फलकों पर लेजर पद्धति से गहरी काली रेखाओं में अंकित किया गया है। ऐसा माना जाता है कि नर्मदा के आसपास ही गोंड, बैगा, कोल, भील आदि जनजातियों का उद्भव और विकास हुआ है। नर्मदा की उत्पत्ति कथा जोहिला, सोनभद्र और नर्मदा के विवाह त्रिकोण पर केन्द्रित है, जिसमें नर्मदा अखंड कुँवारी रह जाती हैं।

द्वार से घुसते ही बायीं ओर 'काउण्टर' और दाहिनी ओर 'सोविनियर शॉप' के तीन सुन्दर कलात्मक रेक्स तथा सल्फी, ताड़ी, वट, केले, पपीता के पेड़ स्वागत करते दिखाई देते हैं। सामने बाँस के टट्टर पर 'मस्तक का बैगा गुदना' अंकित है। जो आदिमता का प्रतीक चिन्ह कहा जा सकता है। बैगा आज भी एक प्रिमीटिव जनजाति मानी जाती है। यहीं से संग्रहालय का खुला गोल रंगमंच और खुशनुमा वातावरण दिखाई देता है।

काउण्टर से लगी हुई प्रथम गैलरी में जाने का मतलब मध्यप्रदेश के

सांस्कृतिक वैविध्य की झलक देखना है। भारत भूमि के मध्य में मध्यप्रदेश का नक्शा दिल के आकार का है। उसे ऊपर से धड़कते देखना अपने आप में आश्चर्य से कम नहीं है। जहाँ से आदिवासियों के रहने के स्थान विभिन्न रंगों के माध्यम से देखे जा सकते हैं। मध्यप्रदेश में जो जनजातीय सांस्कृतिक वैविध्य है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस दृष्टि से मध्यप्रदेश की संस्कृति के रंग इन्द्रधनुषी हो गये हैं। इस विशिष्टता को दर्शाती मध्यप्रदेश की परिचयात्मक दीर्घा का विन्यास बिल्कुल अलग अंदाज में प्रस्तुत किया गया है। इसे हर कोई दर्शक महसूस कर सकता है।

गैलरी एक के मध्य भाग में भूमि पर लेटा हुआ प्रदेश का त्रिआयामी नक्शा। जिस पर प्रदेश की प्रमुख जनजातियों की भौगोलिक स्थिति के अनुसार उपस्थिति। इस मानचित्र के बीच

से प्रदेश का राजचिन्ह वटवृक्ष बड़े आकार-प्रकार में ऊपर की ओर उठता मोटा तना लटकती प्रशाखाओं सहित रूपायित किया गया है, जिसकी शाखाएँ आसपास की चारों दिशाओं की दीवारों को छूती हैं। इन दीवारों पर दिशाओं के अनुरूप स्थित राज्यों की सीमावर्ती संस्कृति और कला आदि का आभास झलकता रहेगा। इसे चित्र, शिल्प आदि से अभिव्यक्ति दी गई है।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि पाँचों दीर्घाएँ एक-दूसरे से गलियारों से जुड़ी हुई हैं। दर्शक एक बार पहली दीर्घा में प्रवेश करते ही अन्तिम पाँचवी अतिथि दीर्घा से ही बाहर निकल पायेगा। वैसे हर दीर्घा से बाहर जाने की सुविधा भी रखी गई है।



दूसरी दीर्घा में जाने के लिये पहले गलियारे को पार करना जरूरी है। पहली से दूसरी जीवन शैली की गैलरी में प्रवेश करते समय पहले गलियारे में दर्शक गोंड आदिवासियों द्वारा बनाई गई लिलार कोठी के नीचे से ही जा सकेंगे। लिलार कोठी मिट्टी, भूसे, बाँस और गोबर से बनाई गई है,

जिसके अर्द्धचन्द्राकार छत से ही गोंड घर में आना-जाना किया जाता है। इसके दो भाग में आयताकार कोठी और ऊपर से छत होती है। कोठी पर 'अन्नदाई कथा' के रिलीफ वर्क गोंड महिलाओं ने अपने हाथों से उकेरे हैं। जमीन से लगभग डेढ़ दो फिट ऊपर कोठी में तीन-चार छोटे गोल द्वार बनाये गये हैं, जिन्हें मिट्टी के ही ढक्कनों से बंद किया जाता है। इसमें अनाज ऊपर से भरा जाता है और नीचे से गोल छिद्रों से निकाला जाता है। गोल छिद्र 'गौमुखी' हैं। जनजातियों का अन्न सुरक्षित रखने का यह तरीका आदिम और वैज्ञानिक है, जिसमें अनाज में घुन नहीं लगती। लिलार कोठी में देवी-देवताओं का वास होता है।

लिलार कोठी से निकलकर दीर्घा दो में सामने गोंड, बैगा, कोरकू और भील के पारम्परिक आवासों का समुच्चय दिखाई

देता है। इन घरों में जनजातियों की भिन्न-भिन्न वास्तु कला और भौतिक संस्कृति की वस्तुओं को देखा जा सकता है। इनके अलावा गोंड मान्यूमेन्ट, कोल, सहरिया, भारिया आदि के आवास आमुख-आँगनों का समुच्चय बनाया गया है। यहाँ आदिवासी समुदायों के आवासों की वास्तुगत, शिल्पगत और व्यवहारगत विशेषताओं को उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों के इस्तेमाल की सूझ-बूझ को रेखांकित किया गया है। इन घरों में आदिवासियों की दैनिकी वस्तुओं को उनके उपयोग के स्थानों पर रखा गया है। इनमें भीलों के टीले वाले घर और बैगा घर की दीमक खाई काली बाड़ सबके आकर्षण का केन्द्र हैं।

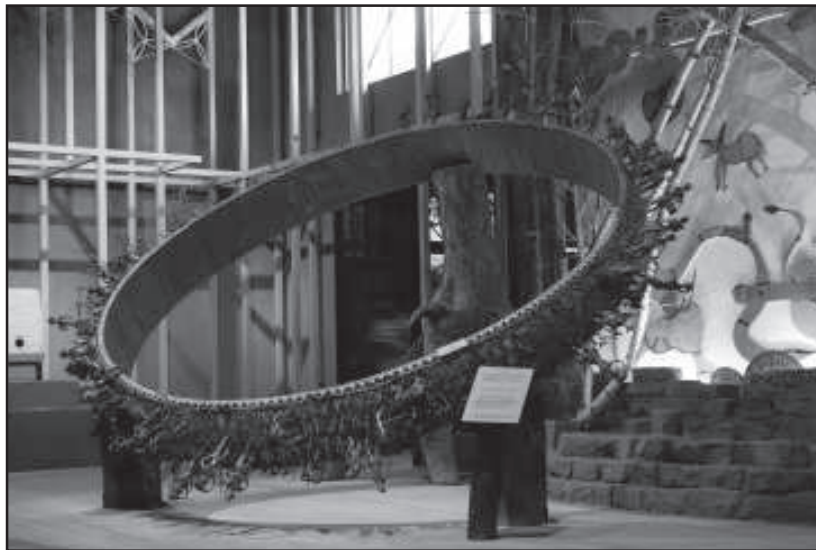
दीर्घा तीन के गलियारे में गोंड आदिवासी विवाह मंडप निर्मित है। इस दीर्घा का नाम 'कलाबोध' है। मंडप के मध्य में एक बड़ी मगरोही या मगरोहन रखी गई है, जो सबका सहज रूप से ध्यान आकर्षित करती है। मगरोहन में बने झूलते तोते प्रेम का प्रतीक हैं। मगरोहन की लकड़ी की बनावट पर उकेरे गये उद्रेखण आदिवासी शिल्प और कला का श्रेष्ठ उदाहरण है। मगरोहन कई आकार-प्रकार की होती है, भाँवर या फेरे आदिवासी दूल्हा-दुल्हन इसी मगरोहन के लगाते हैं। ये इसी को साक्षी मानकर जीवन भर विवाह के बंधन में बँधते हैं। मगरोहन में आजा-पुरखा और सभी देवी-देवताओं का वास होता है। इसमें दूल्हा-दुल्हन को बुरी नज़र से बचाने की शक्ति होती है। मगरोहन पर आदिवासी अनेक आदिम माँगलिक अभिप्राय, गोत्र, चिन्ह, मछली, कछुआ, चन्द्र-सूर्य, साँकल आदि उकेरना नहीं भूलते। दर्शक भी इन्हें देखना न भूलें।

दीर्घा के बीचोंबीच धरती और आकाश के विवाह मंडप के बहाने कुछ प्रमुख जनजातियों के मण्डपों का समुच्चय बनाया गया है। इसी में बासिन कन्या, बैगा गोदना, भीलो की वाद्य

कथा, बाना, खत्रीस (पूर्वज) आदि उत्पत्ति कथाओं को लकड़ी, बाँस, पेड़ आदि के माध्यमों में उकेरा गया है। यहीं बड़े आकार में पवित्र 'गोंड कड़ा' बनाया गया है, जो उर्वरता का प्रतीक है।

आदिवासियों के जीवन में जीवन और कला को विभाजित करके नहीं देख सकते। उनके जीवन की हर गतिविधियों में और साधारण काम में आने वाली सामग्रियों में उनका कला बोध दिखाई देता है। आदिवासी किसी भी चीज को कोरी नहीं देख सकते।

दीर्घा चार का गलियारा आदिवासियों के देवलोक के संसार से जोड़ता है। गलियारे में काँटे का पेड़ रोपित है, जिसे 'कंटक वन' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। जीवन में हर व्यक्ति को कभी न कभी 'कंटक वन' से गुजरना पड़ता है, तब मनुष्य के सबसे नजदीक भगवान या ईश्वर ही पड़ता है। आदिवासियों के जीवन में अनेक देवी-देवताओं की आवाजाही है। जन्म



से मृत्यु तक देवी-देवता उसके साथ होते हैं। चाहे घर हो अथवा जंगल हो। रात हो या दिन हो। उनके अशरीरी देवता सदैव उनके साथ हैं। चाहे सुख हो अथवा दुःख हो। काँटे या दुःख ये देवी-देवता ही हरते हैं। उनके अनेक रूप हैं, जो जनजातियों के लिये अमूर्तन में खुलते हैं।

देवलोक दीर्घा सृष्टि में लोहा खोजने वाले अगरिया जनजाति के कथा द्वार से आरंभ होती है। आदिवासियों के देवी-देवता सब जगह हैं। जंगल या गाँव किनारे अथवा घर के आँगन में कोई खंबा गाड़कर उसमें देवी-देवताओं को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। भूत-प्रेत, चुड़ैल आदि पराशक्तियों पर आदिवासियों को सबसे अधिक विश्वास है। देवलोक में जहाँ आदिवासी दिन-रात रमण करते हैं। एक अगोचर अबूझ रहस्य। इस रहस्य को जनजातीय

देवलोक में उतारने की कोशिश की गई है। दर्शक उनके देवी-देवताओं के अदृश्य संसार को महसूस कर सकें। इसका प्रयास जंगल, पहाड़, चौगान, झाड़-झँकाड़, बापदेव, गातला, पिथौरा, गलदेव, टटलदेवी, मड़ई झाल, मृतक स्तंभ, पण्डो, माड़िया खंब, लिंगो देवगुड़ी, स्वर्ग निसैनी, महरानी देवी, सनेही, देवी झूला आदि रचकर देवलोक को रहस्यमयी बनाया गया है।

देवलोक दीर्घा में छोटे-बड़े मिट्टी के देव चबूतरे, अनगढ़ पत्थर, पेड़ पर लाल-सफेद पताकाएँ, कोई डाँड, कोई खाम, त्रिशूल, दीपक आदि देवलोक के रहस्य को और अधिक रहस्यमय बनाते हैं। बड़े लोहे के खम्बे यहाँ सेमर, सरई आदि पेड़ों में बदल गये हैं। देवलोक दीर्घा में जनजातियों की अखण्डित आस्था का विराट देखा जा सकता है।

दीर्घा पाँच अतिथि राज्य छत्तीसगढ़ की है। छत्तीसगढ़ की स्मृतियाँ मध्यप्रदेश के जेहन में अभी तक है, क्योंकि यह तेरह-चौदह वर्ष पूर्व तक मध्यप्रदेश

की देह का अंग था। संग्रहालय की अतिथि दीर्घा छत्तीसगढ़ के जीवन और कला पर केन्द्रित की गई है। गलियारे में 'सरगुजा जाली' बनाई गई हैं, जो रजवार जाति के कलाकारों ने अपने हाथों से बनाई है। रजवार घरों में आँगन और बरामदे के बीच बाँस, मिट्टी, रस्सी और रंग से जालियाँ बनाई जाती हैं, जिसे विभिन्न पक्षियों, जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों की आकृतियों से सजाते हैं। जिसमें मनुष्य आकृतियाँ भी शामिल होती हैं। मिट्टी रंग से सनी ये जालियाँ नक्काशी की बेजोड़ कला के रूप में जानी जाती हैं।

छत्तीसगढ़ में जनजातियों की सघनता बस्तर, रायगढ़ और सरगुजा में है। यहाँ निवास करने वाली जनजातियों का जीवन कला से भरपूर है। जिनमें मुरिया, माड़िया, हल्बा, भतरा, धुरवा, परजा, पनिका आदि प्रमुख हैं। इस दीर्घा में जगदलपुर में दशहरा

पर्व पर खींचा जाने वाला लकड़ी का विशाल रथ रखा गया है। जिसे बस्तर के आदिवासी रचते हैं, उत्सव में खींचते हैं। प्रत्येक जनजाति की इसमें सुनिश्चित भागीदारी है। इसके आसपास मावली माता, शीतला माता, बिमन दिया, कर्मसेनी वृक्ष, कुम्हार, पनिका, सुतार, घड़वा, लोहार, झारा शिल्पियों के कार्यस्थल रचे गये हैं। यहाँ विशाल रूप में बस्तर के राजवाड़े की दंतेश्वरी देवी द्वार की प्रतिकृति को भी बनाया गया है। इनके आसपास बड़े-बड़े मिट्टी से बने बस्तर के प्रसिद्ध अलंकृत हाथी, शेर रखे गये हैं। लकड़ी से बने बड़े देवी झूले भी इस दीर्घा के आकर्षण के केन्द्र में होंगे। इसके साथ छत्तीसगढ़ के वाद्य, बरतन, वस्त्र और आभूषण आदि भी दीर्घा में देखे जा सकते हैं।

दीर्घा छह-आदिवासी बच्चों के खेलों की प्रदर्शनी के रूप में विकसित की गई है। आदिवासी अपने प्राकृतिक वातावरण में उपलब्ध सामग्रियों से खेल की आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करके खेलते हैं, अपना मनोरंजन करते हैं। इन खेलों से बच्चे



अच्छे निशानेबाज, तैराक, मछुआरे, नर्तक-गायक, साहसी और आपसी सहयोग की भावना को विकसित करते हैं। इस दीर्घा के परिवेश को आदिवासियों के पारम्परिक खेलों के छायाचित्रों और आकृतियों के माध्यम से जीवन्त किया गया है। रकू, पिट्टू, गेड़ी, कुशती, मछली पकड़ने का गिप्पा खेल, चौपड़, घर-घर, गुट्टे, गुलाम डंडी आदि खेलों को यहाँ विविध प्रकार से दर्शाया गया है। छोटे बच्चों के झूमर, झुनझुने गाड़ियों के मूल रूपों की विविधता को दिखाया गया है।

जनजातीय जीवन, संस्कृति और कला परम्परा में उत्सुक अध्येताओं, जिज्ञासुओं और शोधार्थियों के साथ-साथ सम्मान्यजनों को मध्यप्रदेश के जनजातीय जीवन का वैशिष्ट्य जनजातीय संग्रहालय के एक ही परिसर में देखने, समझने और अन्तर्क्रिया के लिये सदैव प्राप्त रहेगा।